वैदिक-विज्ञान

लेखक
महामहोपाध्याय श्रीगिरिधरशर्मा चतुर्वेदी

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
नवदेहली -110016

संस्कृत-विद्यापीठ ग्रन्थमाला का प्रथम पुष्प

विद्यावाचस्पति-श्रीमधुसूदन ओझा द्वारा निरूपित

वैदिक-विज्ञान

प्रधान-सम्पादक
प्रो० वाचस्पति उपाध्याय

लेखक
महामहोपाध्याय श्रीगिरिधरशर्मा चतुर्वेदी

सम्पादक
प्रो० रमेशकुमार पाण्डेय

प्रकाशक:

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय)

प्रकाशक:
कुलपति,
श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय)
कटवारिया सराय, नई दिल्ली-११००१६

द्वितीय संस्करण २००५

ISBN : 81-87987-02-2

मूल्य : ११०/-

मुद्रक:
अमर प्रिंटिंग प्रैस
८/२५ विजय नगर, दिल्ली-९
दूरभाष : ५५४३२६५८

प्राक्कथन

वेद दिव्य समष्टिज्ञान है, परमेश्वर की शब्दमयी अभिव्यक्ति है, यह विविध विद्याओं का भण्डार है, इनका साक्षात्कार ऋषियों ने अपनी साधना की पराकाष्ठा पर किया। सृष्टि की रहस्यमयी विद्या का उन्मेष वेद की ऋचाओं में समाहित है। विराट् और अणु के स्वरूप को आधुनिक विज्ञान भी रहस्यात्मक ही मानता है। इन दोनों तत्त्वों में ऐक्य का दर्शन करने वाले ऋषियों ने भी इन दोनों का मूल अव्यक्त अविनाशी परम तत्त्व को ही माना है। इन दोनों में उसी अक्षर सहस्रात्मा की महिमा प्रकाशित होती है। वह विराट् अनादि और अनन्त है। देश, काल, नाम, रूप के परिवर्तन से उसका भिन्न-भिन्न रूप ही आभासित होता है। यह समग्र सृष्टि किसी अव्यक्त मूल से प्रादुर्भूत है और वह परम अव्यक्त तत्त्व इस अपनी सृष्टि में अनुप्रविष्ट होकर भासित होता है।

परिणामतः हमारी समस्त चेतना उस परम चित्स्वरूप तत्त्व से अनुप्राणित है। भारतीय दृष्टि में समस्त ज्ञान का स्रोत वेद है। उपनिषद् एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में जिस ज्ञान की प्रतिष्ठा दिखायी देती है, उनसबका मूलाधार वेद ही है। इसे अमृत वाक् तत्त्व भी कहा जाता है। यह अमृत वाक् एक समुद्र है, जिससे ज्ञान की विभिन्न धारायें प्रवर्तित हुयी हैं, इसे अपौरुषेय ज्ञान भी कहते हैं। यह वाक् दो रूपों में विद्यमान है—एक परा और दूसरी अपरा। अपरा स्थूल रूप है, जो बुद्धि का स्पर्श करती है। परा वाक् सूक्ष्मरूप है, जो हृदय का स्पर्श करती है। यही अक्षर वाक् है, इसी से गायत्री आदि छन्दों का विकास होता है।

वेद के शब्दार्थ का स्पष्ट ज्ञान तथा मन्त्रों के अर्थों की पारस्परिक संगति को वेद की पद्धति से ही समझा जा सकता है। इस दिशा में वेदांगों एवं उपांगों के ज्ञान के अभाव में पाश्चात्य पद्धति से किया जाने वाला तथाकथित शोध किंचिन्मात्र भी

लाभकारी नहीं है । अतः वैदिक तत्त्वों का समुचित अनुशीलन करके ही वेद मन्त्रों में समाये हुए गम्भीर रहस्यों का अनुभव किया जा सकता है ।

महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी, जो विद्यावाचस्पति मधुसूदन ओझा जी के ख्यातिप्राप्त शिष्य एवं उनकी वैदिकव्याख्याकुशलता से पूर्णतः अभिज्ञ भारतीय विद्याओं के एक सुप्रथित विद्वान् थे, उनके द्वारा वैदिक विज्ञान पर श्री मधुसूदन ओझा जी की दृष्टि से जिज्ञासु पाठकों को परिचय कराना सम्भव था, जिसे कालान्तर में विद्यापीठ के द्वारा पुस्तक के रूप में प्रकाशित कर उपलब्ध भी करा दिया गया । किन्तु शीघ्र ही यह पुस्तक अनुपलब्ध हो गयी । जो ग्रन्थ की लोकप्रियता का ही प्रमाण है ।

कुछ नवीन सामग्री के साथ नवीन कलेवर में पुनः सम्पादित "वैदिक विज्ञान" का द्वितीय संस्करण पाठकों के लिए अवश्य ही रुचिकर एवं ज्ञानवर्धक होगा ऐसा मेरा विचार है ।

—प्रो० वाचस्पति उपाध्याय

सम्पादकीय

वेद भारतीय संस्कृति के अनुपम रत्न हैं। उत्तरवर्त्ती समस्त वाङ्मय प्रत्यक्ष परोक्षरूप में वेदों से आलोकित हैं। जो शास्त्र वेद से प्रकाशित नहीं हैं, उन्हें वह प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त हो सकी, जो प्रतिष्ठा वैदिक विधाओं एवं परम्पराओं को प्राप्त हैं। प्राच्यविद्या का परम स्रोत होने के कारण वेद के प्रति सभी प्राच्यविद्या विशेषज्ञों की महती श्रद्धा है।

आज के भौतिकवादी युग में, जब वैदिक भाषा एवं प्रक्रिया दोनों ही के मर्मज्ञ अत्यन्त विरल हो चुके हों तो वेद के रहस्य को समझना कठिन ही नहीं अति दुरूह है। वैदिक विद्वान् सामान्यत: वेद के अष्टविध पाठों एवं कर्मकाण्ड तक ही परिश्रम करते हैं। किन्तु सौभाग्य से इधर के कुछ वर्षों से शोधकर्त्ताओं ने अपनी शोधमूलक प्रवृत्ति वेदों के प्रति दिखायी है, जिससे वेदों के रहस्य को उद्घाटित होने की आशा जाग उठी है।

"वैदिक विज्ञान" का प्रथम संस्करण कई वर्ष पहले ही समाप्त हो गया था। पाठकों की निरन्तर माँग होने पर भी इसे पुन: प्रकाशित करने में थोड़ा समय लगा। प्रस्तुत संस्करण प्रथम संस्करण की समग्र सामग्री के साथ-साथ वाचस्पति मधुसूदन ओझा के दो और निबन्धों को हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया जा रहा है। इन लेखों को उसी क्रम से आगे के अध्यायों में वेद और धर्म तथा "अल्पज्ञता दर्शन" के नामों से जोड़ लिया गया है। इन निबन्धों के कारण यह ग्रन्थ अब और अधिक उपयोगी हो गया है। उक्त निबन्धों का हिन्दी अनुवाद राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित विद्वान् डॉ० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी जी ने कृपा पूर्वक किया है, जिसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं।

परमादरणीय माननीय कुलपति प्रो० वाचस्पति उपाध्याय जी जिन्होंने न केवल इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को पुनर्मुद्रण योजना में सम्मिलित करने का निर्देश दिया अपितु प्राक्कथन लिखकर इस ग्रन्थ का गौरव बढ़ाया है। अत: हमारा विभाग माननीय कुलपति जी के प्रति कृतज्ञ है।

प्रथम संस्करण की अशुद्धियों के परिहार हेतु यथासम्भव प्रयत्न किया गया है। हमें आशा है कि यह संस्करण जिज्ञासुओं का आदर अवश्य प्राप्त करेगा।

—प्रो० रमेश कुमार पाण्डेय

Preface

I have great pleasure in introducing to the world of oriental scholarship the lectures delivered by Mahamahopadhyaya Shri Giridhar Sharma Chaturvedi on some important aspects of the Vedic interpretation propounded by Vidya Vachaspati Shri Madhusudan Ojha in his several works. These lectures were organised by the Akhil Bharatiya Sanskrit Vidyapeeth, Delhi as a part of the Sharadiya Jnana Mahotsava. The Vidyapeeth has decided to celebrate the Navratri season every year by organising lectures of distinguished oriental scholars on important subjects relating to ancient Indian culture. Navratri is a season of festival worship and is celebrated throughout India. It is the divine trinity of Mahakali, Mahalakshmi and Mahasaraswati that is honoured during this festival season. The Vidyapeeth, which is dedicated to the cause of culture, has naturally decided to organise a series of lectures with a view to worship Goddess Saraswati every year during the Navratri seascn. It is the intention of the Vidyapeeth to invite scholars, who have achieved outstanding recognition and reputation in the world of oriental scholarship from all over the world, to deliver lectures and thus help the process of a rational and scientific study of the Vedas, the Vedic lore and indeed the whole of Indian philosophy and culture. I have no doubt that by its

varied educational and cultural activities the Vidyapeeth will in course of time attain the status of an interanational centre for Sanskrit studies. The Sharadiya Jnan Mahotsava, which was organised this year and which will be organised year after year is a step taken by the Vidyapeeth in pursuance of its ideal to spread the study of ancient Indian culture.

It seems to me that the subject chosen for this year's lecture series is very appropriate. Any attempt to encourage the movement of cultural renaissance in India must inevitably begin with a critical study of the Vedas. There can be little doubt that the Vedas are the ultimate source and primary repository of ancient Hindu culture, and a proper study of the Vedas would help the process of Indian renaissance. The Vedas have us the picture of social life in ancient India, the philosophy in which the ancient Aryans believed, their religious institutions, their beliefs and customs and their general outlook on life. The interpretation of the Vedas undoubtedly presents a difficult problem. Several Western scholars have devoted themselves to the study of this problem. Roth, Ludwig, Maxmuller, Macdonel, Keith, Bloomfield and a host of other dedicated scholars have by their dedicated work made significant contribution in solving the problem of interpreting the Vedas. However as Dr. E.J. Thomas has so eloquently observed: 'we are learning in the West that the great problem is not yet solved'. All students of Vedic culture would nevertheless cheerfully pay their respectful homage to the memory of those devoted Western oriental scholars.

It can be stated without exaggeration that Pandit Madhusudan Ojha (1866-1939) deserves a place of pride in the galaxy of oriental scholars. He devoted the whole of his life-time to the study of the Vedas, and the

method of interpretation adopted by him shows what a remarkable insight and wisdom this scholar brought to bear upon the problem of Vedic interpretation. His attempt always was to harmonize the Vedic texts and to show that there is a logical and scientific basis on which the Vedic traditions and customs rest. Ojha devoted more than half a century to the task which he had undertaken, and this work he carried out at Jaipur. He had occasion to go to England and the lectures which he delivered at the Cambridge and Oxfored Universities were very well received and were highly appreciated by Western scholars. It is a remarkable tribute to the dedicated and unceasing work of this scholar that he has written about 228 big and small volumes on Vedic Vijnana, and so, it is very appropriate that the lecture series organised by the Vidyapeeth should begin with the subject of Vedic Vijnana as interpreted by Pandit Madhusudan Ojha.

It is indeed a very happy coincidence that the Vidyapeeth should have succeeded in securing the active co-operation of Mahamahopadhyaya Giridhar Sharma in expounding Ojha's interpretation of Vedic lore. Sharma himself is a renowned oriental scholar and is held in high esteem in the contemporary world of oriental scholars. He is one of the most renowned disciples of Ojha and has spent his whole life-time in preserving and enriching the traditions initiated by Ojha. In the lectures delivered by Sharma, he has given us a clear insight into and a lucid exposition of the General philosophy which Ojha expounded in his enlightened and scholarly works dealing with the problem of Vedic interpretation. I have no doubt that these lectures will furnish valuable material to oriental scholars and will be highly appreciated by all of them.

It is hardly necessary to emphasise that a country like India which dreams of building up a bright future must have a clear idea of its bright and inspiring past. The past, the present and the future are integrally connected by an invisible but unbreakable thread of continuity; and so, whilst we look ahead and hope to build a new world, we must see that the valuable Link of continuity is maintaiend, from this point of view the study of ancient Indian, and it is quite obvious that in the study of ancient Indian cutlture must play an important role in the cultural life of India, and it is quite obvious that in the study of ancient Indian, culture, Sanskrit has to play a positive role. It is the full appreciation of the significance of the study of Sanskrit in the cultural progress of India which inspires the activities of the Vidyapeeth. While introducing the present lectures to the world of Oriental scholarship and the public in general, I wish to pay my tribute to the Vidyapeeth and all the teachers who are actively associated with it. By its varied educational and cultural activities, the Vidyapeeth is steadily and consistently endeavouring to encourage the study of ancient Sanskrit literature which has an imparishable value for us and is thereby guiding properly the movement of Indian cultural renaissance in an appropriate, rational and scientific way. I wish the Vidyapeeth all success in its mission.

New Delhi
24th February, 1965

P.B. Gajendragadkar

भूमिका

विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदन ओझा की अनेक रचनाओं में प्रवर्तित वैदिक व्याख्या के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर महामहोपाध्याय श्रीगिरिधरशर्मा चतुर्वेदी के भाषणों को विश्व के प्राच्यविद्याविशारदों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे अत्यधिक हर्ष हो रहा है। इन भाषणों का आयोजन अखिलभारतीय संस्कृत-विद्यापीठ दिल्ली ने अपने शारदीय ज्ञानमहोत्सव के तत्त्वावधान में किया था। विद्यापीठ ने प्रतिवर्ष प्राचीन भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण विषयों पर ख्यातिप्राप्त प्राच्य-विद्या-विशारदों की भाषणमाला का आयोजन कर नवरात्र महोत्सव मनाने का संकल्प किया है। नवरात्र विशेष पूजापर्व के रूप में सम्पूर्ण भारतवर्ष में मनाया जाता है। इस पर्व में महाकाली, महालक्ष्मी तथा महासरस्वती दैवी त्रिमूर्तियों की उपासना की जाती है। विद्यापीठ ने जिसका संकल्प ही संस्कृति की सेवा है, इस पुण्यपर्व में महासरस्वती की उपासना इस प्रकार की भाषणमाला के आयोजन से करने का निर्णय लिया है—यह स्वाभाविक है।

विश्व के प्राच्यविद्या के क्षेत्र में प्रख्यात और प्रतिष्ठित विद्वानों को व्याख्यान देने के लिए निमंत्रित कर वेदों, वैदिक विद्याओं तथा समस्त भारतीय दर्शन और संस्कृति के तर्कपूर्ण और वैज्ञानिक अध्ययन की प्रक्रिया में योगदान करना विद्यापीठ का उद्देश्य है। मुझे इसमें कोई संशय नहीं है कि विद्यापीठ अपनी बहुविध शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक प्रवृत्तियों द्वारा कुछ समय में ही संस्कृत के अध्ययन के अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र की प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा। शारदीय ज्ञानमहोत्सव, जिसका आरम्भ इस वर्ष से किया गया है और जो प्रति वर्ष इसी प्रकार मनाया जाता रहेगा, जो प्राचीन भारतीय विद्याओं के प्रसार की दिशा में विद्यापीठ के लक्ष्य के अनुरूप कदम है।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस वर्ष की भाषण-माला के लिए जिस विषय का चयन किया गया है, वह बहुत उपयुक्त है। भारत में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की प्रत्येक प्रवृत्ति के प्रोत्साहन का हरेक प्रयत्न अनिवार्य रूप से वेदों के समीक्षात्मक अध्ययन से प्रारम्भ करना चाहिए। यह निर्विवाद है कि वेद प्राचीन भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत एवं प्रधान भाण्डागार हैं अतः वेदों का समुचित अध्ययन भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण की प्रक्रिया में सहायक होगा। प्राचीन भारतीय सामाजिक जीवन तथा वह तत्त्वज्ञान, जिसमें प्राचीन आर्य विश्वास रखते थे; उनकी धार्मिक संस्थाएँ, आस्थाएँ, रीतिरिवाज और समग्र-जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण का चित्र वेद हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

वेदों की व्याख्या निःसन्देह एक कठिन समस्या है। इस समस्या के समाधान पर अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने अपना सारा जीवन लगाया है। राथ, लुडविग, मैक्समूलर, मैक्डोनल, कीथ, ब्लूमफील्ड तथा इस क्षेत्र में आजीवन साधना करने वाले अन्य विद्वानों के समुदाय ने अपनी रचनाओं द्वारा वेदों की व्याख्या की समस्या के समाधान में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। फिर भी जैसा कि डाक्टर ई० जे० टॉमस ने स्पष्ट रूप से लिखा है "पश्चिम में हम लोगों को ऐसा प्रतीत हो रहा है कि इस महान् समस्या का अभी तक समाधान नहीं हुआ है।" परन्तु वैदिक संस्कृति के सभी अध्येता पश्चिम के निष्ठावान् प्राच्यविद्या विशारदों के प्रति ससम्मान प्रसन्नता से अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करेंगे।

पण्डित मधुसूदन ओझा (१८६६-१९३६) प्राच्य-विद्या-विशारदों की तेजस्वी माला में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करने के अधिकारी हैं, यह अतिशयोक्ति के बिना कहा जा सकता है। उन्होंने अपना समस्त जीवन वेदों के अध्ययन में समर्पित किया है। उनके द्वारा प्रयुक्त वेद-व्याख्या-पद्धति यह प्रदर्शित करती है कि कितनी उल्लेखनीय अन्तर्दृष्टि एवं प्रौढ़ पाण्डित्य की अवतारणा वैदिक व्याख्या के समाधान में इस विद्वान् ने की है। वैदिक-संहिताओं का समन्वय एवं वैदिक परम्परा और रीति-रिवाजों को एक तर्कसंगत तथा वैज्ञानिक आधारयुक्त सिद्ध करना उनका सतत प्रयत्न था। श्री ओझा ने आधी शताब्दी से भी अधिक समय अपने इस कार्य में लगाया और यह कार्य उन्होंने जयपुर (राजस्थान) में रहकर किया। उन्हें इंग्लैण्ड जाने का भी अवसर मिला और जो व्याख्यान उन्होंने केम्ब्रिज

तथा ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों में दिए, उनका हार्दिक स्वागत हुआ और पाश्चात्य विद्वानों ने उन भाषणों की बड़ी प्रशंसा की । यह उस विद्वान् के निष्ठायुक्त और अथक कार्यों का मूर्त स्वरूप है कि उसने वैदिक विज्ञान पर लगभग २२८ छोटे बड़े ग्रन्थ लिखे । इसलिए यह अत्यन्त उपयुक्त ही है कि विद्यापीठ द्वारा आयोजित भाषणमाला का प्रारम्भ, श्री मधुसूदन ओझा द्वारा निरूपित वैदिक विज्ञान से हो ।

यह आकस्मिक और आनन्ददायक संयोग की बात है कि विद्यापीठ श्री ओझा द्वारा निरूपित वैदिक विज्ञान की व्याख्या करने के लिए महामहोपाध्याय श्री गिरिधर शर्मा का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने में सफल हुआ है । श्री शर्मा स्वयं एक प्रख्यात भारतीय विद्याओं के विद्वान् हैं और समकालीन भारतीय विद्वानों में अत्यधिक सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं । वे श्री ओझा के ख्यातिप्राप्त शिष्यों में से एक हैं और उन्होंने श्री ओझा द्वारा प्रवर्तित परम्पराओं को सुरक्षित एवं समृद्ध करने में अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत किया है । वैदिक व्याख्या की समस्या को हल करते समय अपनी प्रेरक एवं विद्वत्तापूर्ण कृतियों में श्री ओझा द्वारा निरूपित सामान्य दर्शन को श्री शर्मा ने अपने व्याख्यान द्वारा स्पष्ट दृष्टि और सफल अभिव्यक्ति प्रदान की है । मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ये व्याख्यान प्राच्यविद्याविशारदों को बहुमूल्य सामग्री प्रदान करेंगे और उन सबके द्वारा अत्यधिक प्रशंसित होंगे ।

इस बात पर बल देने की आवश्यकता नहीं है । कि भारत जैसे देश को जो एक स्वर्णिम भविष्य के निर्माण का स्वप्न देखता है—अपने सुन्दर एवं प्रेरणादायक अतीत की स्पष्ट झांकी होनी चाहिए । अतीत, वर्तमान और भविष्य एक अदृश्य किन्तु अटूट शृङ्खला में जुड़े हुए हैं, अत: जब हम लोग भविष्य पर दृष्टिपात करते हैं और एक नवीन संसार का निर्माण करना चाहते हैं, तो हमें इस बात पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि इस स्वर्णिम शृङ्खला का सातत्य बना रहे । इस दृष्टि से भारत के सांस्कृतिक जीवन में प्राचीन भारतीय संस्कृति को एक महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित करना है और यह सर्वथा स्पष्ट है कि इस संस्कृति के अध्ययन में संस्कृत को एक निश्चित योग देना है । भारत की सांस्कृतिक-प्रगति में संस्कृत के अध्ययन की इस महत्ता को विद्यापीठ ने अनुभव किया है अत: यही विद्यापीठ की समस्त

प्रवृत्तियों का प्रेरणास्रोत बन गया है । विश्व के प्राच्यविद्या-विशारदों तथा सामान्य जनता के समक्ष वर्तमान भाषणों को प्रस्तुत करते हुए, मैं विद्यापीठ तथा उससे सक्रिय रूप से संबद्ध समग्र अध्यापकों को अपनी श्रद्धा अर्पित करना चाहता हूँ । अपने विविध शैक्षणिक तथा सांस्कृतिक क्रिया-कलापों द्वारा विद्यापीठ दृढ़ता और सातत्य के साथ प्राचीन संस्कृत साहित्य के अध्ययन को आगे बढ़ाने में प्रयत्नशील है, जिसका हम लोगों के लिए शाश्वत मूल्य है और जो इस प्रकार भारत के सांस्कृतिक पुनर्जागरण की प्रवृत्ति का तर्कसंगत, समुचित एवं सुव्यवस्थित मार्ग निर्देशन करेगा । मैं विद्यापीठ के इस ध्येय की सफलता की कामना करता हूँ ।

नई दिल्ली,

२४ फरवरी, १९६५

पी. बी. गजेन्द्र गडकर

अखिलभारतीय संस्कृतविद्यापीठ द्वारा आयोजित शारदीय ज्ञानमहोत्सव में श्री बलीराम भगत, योजनामंत्री-भारतसरकार का अध्यक्षीय भाषण

अखिलभारतीय संस्कृतविद्यापीठ की ओर से आयोजित शारदीय ज्ञान-महोत्सव की अध्यक्षता के लिए आप लोगों ने मुझे यहाँ आमंत्रित कर जो सम्मान दिया है, उसके लिए मैं आपका विशेष रूप से आभारी हूँ। संस्कृत में अपने अज्ञान के कारण मैं आप लोगों के बीच इस स्थान पर बैठने में संकोच का अनुभव कर रहा हूँ, लेकिन संस्कृत में गहरी निष्ठा और श्रद्धा, डॉ. मण्डन मिश्र के अनुरोध और इस पुनीत कार्य में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में सहयोग देने की मेरी भावना ने मुझे यह निमंत्रण स्वीकार करने को विवश किया। मुझे आशा है कि आप जैसे विद्वानों का आशीर्वाद और इस पुण्य कार्य के प्रति शुभ संकल्प, मेरी इस अज्ञानता के आवरण बनेगें।

राजधानी के लिये यह प्रसन्नता का विषय है कि अखिलभारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन ने यहाँ के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति के लिये संस्कृतविद्यापीठ की स्थापना की है। यह दूसरा सौभाग्य का विषय है कि हमारे श्रद्धेय प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री जी, सम्मेलन और विद्यापीठ के अध्यक्ष के रूप में देश के इस सांस्कृतिक जगत् को भी अपना नेतृत्व प्रदान कर रहे हैं। मुझे विद्यापीठ के गाजियाबाद में सम्पन्न-प्रथम दीक्षान्त समारोह में श्रीशास्त्री जी के आदेश से दीक्षान्त भाषण देने का सुअवसर मिला और उसी प्रसंग में सम्मेलन और विद्यापीठ की योजनाओं से परिचय लाभ भी मैंने प्राप्त किया। मैं इसे और भी सौभाग्य की बात

समझता हूँ कि सम्मेलन और विद्यापीठ ने मेरे इस प्रारम्भिक परिचय को आत्मीयता के रूप में परिणत कर दिया है तथा मुझे अपने परिवार के एक सदस्य के रूप में स्वीकार कर डा. राजेन्द्र केन्द्रीय संस्कृत पुस्तकालय एवं संग्रहालय की केन्द्रीय-समिति का अध्यक्ष चुना है। इन संस्थाओं के साथ इस निकटता के कारण भी मैं माननीय सर्वोच्च न्यायाधीश श्री गजेन्द्र गडकर के स्वागत का अधिकार रखता हूँ। यह जानकर मुझे और भी प्रसन्नता का अनुभव हुआ है कि माननीय श्री गजेन्द्र गडकर की आत्मीयता भी सम्मेलन और विद्यापीठ के साथ निरन्तर बढ़ती जा रही है। मैं संस्कृत भाषा और वैदिक विज्ञान के प्रति उनके सौहार्द्र और इन संस्थाओं को प्रोत्साहन देने की उनकी प्रवृत्ति के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, और उनके सहयोग को इस विद्यापीठ तथा सम्मेलन के लिये शुभ लक्षण मानता हूँ।

विद्यापीठ ने शारदीय ज्ञानमहोत्सव के रूप में शरद् और शारदा का इस रूप में स्वागत कर राजधानी में एक नई परम्परा का श्रीगणेश किया है। शरद् और ज्ञान के शाश्वत और सूक्ष्म सम्बंध को इस प्रकार मूर्त स्वरूप देकर विद्यापीठ ने एक महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसका शुभारम्भ वैदिक विज्ञान जैसे विषय, म० म० श्री गिरिधर शर्मा जैसे वक्ता और श्री गजेन्द्र गडकर जैसे मनीषी के उद्घाटन भाषण से सम्पन्न हो इससे बढ़कर स्वर्ण-सुरभि का योग और क्या हो सकता है। विषय, वक्ता और उद्घाटक की इस त्रिवेणी के संस्कृतविद्यापीठ भवन में अवतरित होने के इस अहोभाग्य पर मैं विद्यापीठ परिवार को बधाई देता हूँ।

मुझे तो इस बात का और भी गौरव है कि मैं स्वयं उस पुण्य भूमि बिहार से आता हूँ, जिसने विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन ओझा को जन्म देने का श्रेय प्राप्त किया है। वैसे श्री ओझा ने राजस्थान को अपनी साधना का क्षेत्र बनाया, इससे राजस्थान को भी उन पर गर्व होना स्वाभाविक है, पर वास्तव में उनकी सेवाएँ देश और काल की सीमा से परे अर्थात् सार्वदेशिक और सार्वकालिक हैं। ऐसी ही महान् विभूतियों ने इस देश को जगद्गुरु कहलाने का सौभाग्य प्रदान किया है। यह हम सब का नैतिक कर्तव्य है कि अखिलभारतीय संस्कृतसाहित्यसम्मेलन की महासमिति के निश्चय के अनुसार श्री मधुसूदन ओझा शताब्दी आयोजन में सक्रिय योगदान करें। यह न केवल कर्तव्यपालन के लिये आवश्यक है अपितु विश्व के ज्ञान-भाण्डागार में वृद्धि के लिये भी यह अनिवार्य कर्तव्य है कि हम उनके साहित्य

और उनके द्वारा प्रवर्तित वैज्ञानिक विवेचनों का प्रचार करें तथा प्रयोगों के द्वारा उनके विधानों की समीक्षा करें ।

सारे विश्व में वेद और वैदिक विद्याओं का महान् आदर है । आज भी विश्व में २०० से अधिक पी-एच.डी. के विद्यार्थी वेद पर निबन्ध लिख रहे हैं और कुछ उच्चस्तरीय शोध संस्थाओं में विद्वान् अनुसंधान कार्य में लगे हुए हैं । वास्तव में वेद सनातन आकर्णन, सनातन चिन्तन और सनातन मनन का विषय है । बीसवीं शताब्दी के इस संक्रमण काल में भी जबकि चारों ओर तकनीकी विद्याओं का प्रसार हो रहा है, वेद पर इतने निबन्धों का लिखा जाना उसके प्रति विश्व के सम्मान का प्रत्यक्ष प्रमाण है । इनमें भी श्री मधुसूदन जी द्वारा प्रतिपादित वैदिक विज्ञान अपने आप में एक स्वतंत्र विचारप्रणाली है । इसलिए यह और भी अधिक अनिवार्य हो गया है कि सारे विश्व तक इस प्रणाली का संदेश पहुँचाया जाय, जिससे उस पर चिन्तन, मनन और चर्चाएँ हों और विश्व को ज्ञान के क्षेत्र में एक नया प्रकाश मिले । मैं मानता हूँ कि यह व्याख्यानमाला और यहाँ दिये गये भाषणों का प्रकाशन इस दिशा में प्रस्तावना का कार्य करेगा ।

अन्त में इस पुण्य प्रसंग में मैं वैदिक विज्ञान की आज की चर्चा की समाप्ति में केवल इतना ही कह सकता हूँ कि राजधानी में डा. राजेन्द्र बाबू की सेवाओं के भव्य स्मारक के अनुरूप केन्द्रीय संस्कृत पुस्तकालय और संग्रहालय के विकास तथा श्री मधुसूदनसाहित्य-प्रकाशन के लिये मैं भारत-सरकार, राज्य-सरकारों, उद्योगपतियों और जनता से अधिक सहयोग प्राप्त करने की कोशिश करूँगा और इन शुभ संकल्पों की पूर्ति में विद्यापीठ और सम्मेलन का सहायक बनने में अपना सौभाग्य मानूँगा । धन्यवाद ।

भारत सरकार के सांस्कृतिक-कार्य-मन्त्री श्रीरामचन्द्र मार्तण्ड हाजिरनवीस का शारदीय ज्ञानमहोत्सव के समापन समारोह पर अध्यक्षीय भाषण

संस्कृतविद्यापीठ ने शारदीय-ज्ञानमहोत्सव के प्रसङ्ग में इस उत्कृष्ट व्याख्यानमाला का आयोजन कर स्थानीय जनसमाज और वैदिकरहस्य के जिज्ञासुओं का महान् उपकार किया है। विश्व के अनेक मूर्धन्य मनीषियों ने वेद के अगाध तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिये अपना समस्त जीवन समर्पित कर निरन्तर अनुसन्धान द्वारा अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन किया है, यह सर्वविदित है। भारतीयों का तो समस्तजीवन ही वेद से प्रभावित है। समस्त भारतीय संस्कृति, भारतीयजीवन वेदों की रश्मियों से प्रकाशित है। अत: वैदिक-तत्त्वों का सदैव सुगम शैली में व्याख्यान इस राष्ट्र के लिये विशेष रूप से आकर्षण का विषय हो, यह स्वाभाविक है।

प्रत्येक वैदिकदर्शन वैदिक तत्त्वों के व्याख्यान के लिये प्रवृत्त हुआ और उसी में वह परिणत हुआ है। सांख्य की प्रक्रिया कुछ भिन्न-सी है, किन्तु योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त दर्शनों का आधार तो वेदों के मन्त्र-वाक्य ही हैं। श्री मधुसूदन ओझा का भी एक दर्शन है जो अपनी शैली और उद्देश्य की दृष्टि से पूर्वदर्शनों से कुछ विलक्षण सा प्रतीत होता है वस्तुत: सभी वैदिक दर्शनों के प्रभाव से वह ओत-प्रोत है और निश्चय ही वैदिक तत्त्वज्ञान की दिशा में एक चमत्कारयुक्त चिन्तन प्रस्तुत करता है।

इस साप्ताहिक व्याख्यान-माला में वेद के तात्त्विक-स्वरूप की चर्चा आपने सुनी है, जिसमें श्री विद्यावाचस्पति जी ने वेद और ब्राह्मणों का एकत्व प्रतिपादित किया है। वेद ही परमसत्ता, परमज्ञान और परमलाभ हैं। इस प्रकार वेद का

सच्चिदानन्द स्वरूप स्पष्ट है। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक शब्दराशि, उस परात्पर वेदतत्त्व का प्रतिपादन करने के कारण 'वेद' इस नाम से अभिख्यात है। 'वेद-तत्त्व, ऋक्तत्त्व, यजुष्-तत्त्व, साम-तत्त्व, अथर्व-तत्त्व, ऋषितत्त्व, देव-तत्त्व' आदि अनेक तत्त्वों को सर्वजनसुलभ शैली में प्रस्तुत करते हुए महामहोपाध्याय श्री गिरिधर शर्मा जी ने विषय के गौरव को प्रकट किया है।

जन्म से मिथिलाप्रान्त और कार्य से राजस्थान को कृतार्थ करते हुए श्री विद्यावाचस्पति जी ने वैदिक-विज्ञान को आविष्कृत करने वाली, पुरातन होने पर भी नवीनतम अपनी प्रतिभा से केवल भारतवर्ष को ही नहीं प्रत्युत समस्त पृथ्वी-मंडल को पवित्र एवं कृतार्थ किया है। इस प्रकार उनकी सार्वभौमता और सार्वदेशिकता हमारी जाति, सभ्यता, संस्कृति और मातृ-भूमि सभी की शोभा बढ़ा रही है।

यह सुनिश्चित है कि विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन ओझा जी द्वारा प्रतिपादित पुर, पुरुष, रयि तथा प्राण-तत्त्वबहुल 'वैदिक विज्ञान' प्राचीन होता हुआ भी केवल शताब्दी तक ही नहीं अपितु सहस्राब्दियों के बाद भी पुनः प्रकाशित होने पर अत्यन्त नवीन और मौलिक प्रतीत होगा। उस सर्वतन्त्रस्वतन्त्र विद्वान् की यह विचारप्रणाली स्वतन्त्र होते हुए भी सर्वथा वेद-मूलक है। यह विचारप्रणाली समस्त-संसार में फैले, इसके लिये हमें प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रयत्न में श्री विद्यावाचस्पति जी द्वारा विरचित दो सौ से अधिक ग्रन्थ तथा उनके प्रतिबोधक चित्रों के प्रकाशन का कार्य सर्वप्रथम हाथ में लेना चाहिए। सरकार को भी इस विषय में अखिलभारतीय संस्कृत-साहित्यसम्मेलन और संस्कृतविद्यापीठ की विशेष सहायता करनी चाहिए जिससे इस ज्ञान का प्रचार सारे संसार में हमारा मस्तक उन्नत कर सके।

अन्त में परमधाम में विराजमान श्री ओझा जी को मैं भावभरी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ, और व्याख्यान-माला के प्रधानवक्ता श्री गिरिधर शर्मा जी चतुर्वेदी महोदय को प्रणामाञ्जलि के साथ विद्यापीठ द्वारा प्रस्तुत इस श्रद्धापूत उत्तरीय से सम्मानित करते हुए अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ।

सम्पादकीय

(प्रथम संस्करण का)

अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन द्वारा गत आधी शताब्दी में किये गये महत्त्वपूर्ण कार्यों में अखिल भारतीय संस्कृत विद्यापीठ की स्थापना का ऐतिहासिक महत्त्व है। विद्यापीठ का लक्ष्य विश्व में संस्कृत और भारतीय संस्कृति के संदेश को पहुँचाना है। यह सर्वसम्मत सत्य है कि संस्कृत-भाषा सम्बद्ध ज्ञान-विज्ञान को जानने और उसकी अधिकृत व्याख्या तथा भाष्य करने का अधिकार इसी राष्ट्र का है । इसलिए हम भारतवासियों का यह कर्तव्य हो जाता है कि इस पुनीत प्रभाव-पूर्ण संदेश को विश्व के कोने-कोने तक पहुँचाएँ।

इसी संकल्प को दृष्टि में रखते हुए अपनी अन्तर्राष्ट्रीय प्रगति के मंगलाचरण के रूप में विद्यापीठ ने अक्टूबर, १९६४ में शारदीय ज्ञान महोत्सव का शुभारंभ किया। इस महोत्सव का उद्देश्य एक उच्चस्तरीय ज्ञानार्जन के वातावरण का निर्माण कर संस्कृत और भारतीय संस्कृति के ज्ञान विज्ञान का सन्देश सारे विश्व को उपलब्ध कराना है। विशेषकर विद्वानों को सतत जागरूक रखने एवं उनके ज्ञान-विज्ञान के उत्तरोत्तर संवर्धन के लिए भी इस प्रकार की उच्चस्तरीय शास्त्रीय चर्चा अनिवार्य महत्त्व रखती हैं।

इसी पृष्ठभूमि में इस कार्यक्रम का मंगलाचरण सप्तदिवसीय भाषणमाला के माध्यम से वैदिक ज्ञान विज्ञान की चर्चा से किया गया। विद्यापीठ ने इस शताब्दी के उच्चतम वैदिक विद्वान् स्वर्गीय श्री मधुसूदनजी ओझा द्वारा निरूपित वैदिक विज्ञान को प्रथम वर्ष का विषय चुना और उनके स्वनामधन्य प्रधान शिष्य महामहोपाध्याय श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी को इस विषय पर व्याख्यान के लिए आमन्त्रित किया।

इस भाषण-माला का उद्घाटन २० अक्टूबर को भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश माननीय श्री गजेन्द्र गडकर द्वारा भारत के योजना मंत्री श्री बलिराम भगत की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। प्रथम दिन का विषय—श्री मधुसूदन जी का जीवन परिचय था। द्वितीय दिन का विषय—श्री ओझा की कतिपय कृतियाँ व परिचय और उसके अध्यक्ष भारत के उपशिक्षामन्त्री श्री भक्तदर्शन, तृतीय दिन का विषय—श्री ओझा निरूपित वेद स्वरूप और उसके अध्यक्ष डा. नरहरिविष्णु गाडगिल, उपकुलपति—पूना विश्वविद्यालय, चतुर्थ दिन का विषय—श्री ओझा द्वारा आविष्कृत वैदिक-ऋषि और देवता और उसके अध्यक्ष श्री मौलिचन्द्र, शर्मा, सदस्य राजभाषा-विधायि-आयोग और पंचम दिन का विषय—श्री ओझा निरूपित वैदिक यज्ञविज्ञान और उसके अध्यक्ष डा. नरेन्द्रनाथ चौधरी, संस्कृत-विभागाध्यक्ष, दिल्ली विश्वविद्यालय, षष्ठ दिन का विषय—श्री ओझा निरूपित वैदिक पितृविज्ञान और उसके अध्यक्ष डा. रामकरण शर्मा विशेषाधिकारी संस्कृतशिक्षा भारत सरकार, सप्तम दिन का विषय—श्री ओझा के दृष्टिकोण में प्राचीन भारत की सीमाएँ व देवलोक था। इसी दिन व्याख्यान माला का समाप्ति समारोह हुआ—जिसके अध्यक्ष केन्द्रीय सांस्कृतिक कार्यमंत्री श्री रामचन्द्र मार्तण्ड हाजिरनवीस थे।

समारोह की स्वागत समिति के अध्यक्ष भारत के उपसूचना मंत्री श्री सी. आर. पट्टाभिरामन् महोत्सव के प्रेरणा स्रोत थे। श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी की उपस्थिति में उनके प्रतिनिधि के रूप में व्याख्यान सुनाने, व उन्हें संस्कृत में अनूदित करने का कार्य उनके प्रमुख शिष्य संस्कृत विद्यापीठ के प्राचार्य श्री महामहोपाध्याय परमेश्वरानन्द शास्त्री और व्याख्यानों को लिपिबद्ध करने का कार्य संस्कृतविद्यापीठ के व्याख्याता श्री रामाधीन चतुर्वेदी व्याकरण चक्रवर्ती ने किया।

इस प्रकार इस आयोजन के सारभूत भाषणों का यह संकलन शारदीय ज्ञानमहोत्सव के प्रथम प्रकाशन के रूप में प्रस्तुत करते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता है। यह केवल श्री मधुसूदन जी के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का परिचय मात्र है। इसका उद्देश्य यही है कि वैदिकविज्ञान की दिशा में श्री ओझा जी द्वारा प्रतिपादित मान्यताओं की एक आकृति लोगों के समक्ष प्रस्तुत हो सके—जिससे इस ओर लोगों की रुचि और जिज्ञासा जागृत हो तथा वे भारत के इस महान् सपूत द्वारा

प्रवर्तित प्राचीन से प्राचीन और अर्वाचीन से अर्वाचीन तत्त्वों के अध्ययन में प्रवृत्त हो सकें।

विद्यापीठ का यह प्रथम-आयोजन अनेक दृष्टियों से सफल रहा। माननीय श्री गजेन्द्र गडकर की उपस्थिति और आशीर्वाद ने हमको बहुत प्रोत्साहित किया, इसलिए उनके प्रति जितनी भी कृतज्ञता प्रकट की जाय, वह थोड़ी होगी। म. म. श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी तो हमारे समस्त आयोजन के केन्द्र बिन्दु हैं, इसलिए उनको धन्यवाद देना अपने पितामह को धन्यवाद देने के समान होगा। भारत सरकार के शिक्षामंत्री और केन्द्रीय संस्कृत मण्डल के हम अवश्य आभारी हैं कि उन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए हमें अनुदान देने की कृपा की है।

मुख्यतया हमारी कृतज्ञता के विषय हैं—हमारे श्रद्धेय प्रधान मंत्री श्रीलाल-बहादुर शास्त्री जी—जिनसे अखिल भारतीय संस्कृत विद्यापीठ के शासन निकाय के अध्यक्ष के रूप में प्राप्त सक्रिय प्रेरणा का ही यह परिणाम है कि विद्यापीठ और उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति दिन-दिन फल-फूल रही है और उसके कार्यकर्ता विद्यापीठ को अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के रूप में विकसित होने के अपने स्वप्न को निकट भविष्य में ही साकार करने के प्रयत्न में अनवरत संलग्न हैं।

यह आयोजन भी उसी दिशा में योजनाबद्ध मङ्गलाचरण है, जो हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत भाषाओं के माध्यम से विश्व के विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। मेरा विश्वास है कि जिज्ञासुओं के लिए यह विशेष रुचिकर होगा।

गुरु पूर्णिमा—२०२२ वि. **डॉ. मण्डन मिश्र**

अनुक्रमणिका

विद्यावाचस्पति स्व. श्री मधुसूदन ओझा

संक्षिप्त जीवन परिचय

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।[१]

इस भगवदुक्ति के अनुसार जब-जब वैदिक सत्यविद्या अज्ञानधूम से आवृत होने लगती है और मोहवश जनता का विश्वास उससे हटने लगता है, तब-तब परमेश्वर की प्रेरणा से कोई न कोई शक्ति प्रकट होकर सत्यविद्या व सत्यधर्म को राहु-ग्रास से मुक्त कर अज्ञान का नाश कर देती है ।

वेद एक सत्यविद्या है और वैदिक-धर्म एक सत्यधर्म है । इसकी रक्षा का आयोजन ईश्वर की ओर से सदा होता रहता है, जिसका साक्षी इतिहास है । वर्तमान समय वेद-विद्या और वैदिक धर्म के लिए एक प्रचण्ड आपत्ति का समय है । पुराने इतिहास मात्र की खोज के लिए भले ही आज वेद का महत्त्व माना जाता है, परन्तु वेद सत्यविद्या का निधान है, सब प्रकार के विज्ञानों का मूल स्रोत है या भारतीय विज्ञान-सूर्य के प्रकाश का पूर्ण विवरणात्मक इतिहास है—इस अटल सत्य को मानने के लिए आज की शिक्षित जनता तैयार नहीं है । वैदिक-धर्म एक वैज्ञानिक धर्म है, त्रिकालाबाध्य है, एक रस है—यह विश्वास आज पाश्चात्य ढंग से शिक्षित जनता के अन्तःकरण में स्थान नहीं पाता । पावे कहाँ से ? आज तो सत्यविद्या और सत्यधर्म आधुनिक वस्तु विज्ञान (साइन्स) की तराजू पर तौले जाते हैं जो कि इस युग की एक मुख्य विद्या है । वस्तु विज्ञान को आधुनिक शैली से प्रस्फुटित करने वाला कोई भी वेद-भाष्य आज तक नहीं बना । वैदिक-धर्म की विज्ञान मूलकता को सिद्ध करने वाले साधन काल-समुद्र की लहरों में लीन हो चुके हैं । ऐसी स्थिति

---

१. श्रीमद्‌भगवद्गीता अ.४ श्लोक ७ ।

में पुनः वेद का गौरव किस प्रकार प्रतिष्ठापित किया जा सकता है ? 'वेद विज्ञान की राशि है' इतना कहने मात्र से कम से कम इस युग में तो वेद पर जनता की श्रद्धा नहीं जमाई जा सकती । 'इलहामी किताब' मान कर कुरान शरीफ पर मुसलमान भाइयों की तरह भले ही कुछ आस्तिक लोग वेद पर श्रद्धा करें, तो करें, किन्तु श्रद्धा का आधार एकदम अन्धकारमय है । यह निराधार श्रद्धा कितने दिन तक टिक सकती है ? इस बीसवीं शताब्दी में अन्धश्रद्धा के लिए कोई स्थान नहीं । यद्यपि भारत के कई योग्य आधुनिक विद्वानों ने वेद की महिमा बताने के लिए वस्तु-विज्ञान के साथ वेद का सम्बन्ध दिखाने का प्रयत्न किया, किन्तु भारतीय शास्त्रों की नियत परिभाषा के अनुसार क्रम-बद्ध विज्ञान का मूल वेद में कथमपि न दिखाया जा सका । बिना उसके उस विवरण पर वैज्ञानिकों का विश्वास कैसे जम सकता था ? प्रत्युत ऐसे प्रयत्नों को तो उन्होंने उपहासास्पद ही माना, उनकी दृष्टि से ऐसे विवरणों का, आधुनिक विज्ञान द्वारा दिखायी वस्तुओं से वेद की बातों का निराधार तालमेल बैठाने के अतिरिक्त और कोई मूल्य नहीं है । जब तक वैज्ञानिकों को स्पष्ट रूप से यह न बता दिया जाय कि वेद में भी क्रम-बद्ध रूप से वस्तु-विज्ञान की परिभाषाएँ विद्यमान हैं और वे परिभाषाएँ इतनी ऊँची हैं कि जिनका अभी तक आधुनिक वैज्ञानिकों को स्वप्न भी नहीं आया, तब तक आधुनिक जगत् वेद को सत्यविद्या-निधान होने का गौरव या सम्मान नहीं दे सकता ।

किन्तु जगन्नियन्ता जगदीश्वर को यह कब तक सह्य हो सकता था कि सत्यविद्या-निधान वेदों का गौरव आधुनिक विज्ञान के मध्याह्नकाल में छिपा रह जाय । उसने एक ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति को इस भूमण्डल पर उतार दिया—जिसने उसी जगदीश्वर की प्रेरणा से अपनी सारी आयु वैदिक विज्ञान और वैदिक इतिहास के अन्वेषण में खपा दी, और वैदिक विज्ञान और इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण क्रम-बद्ध सूत्र तैयार कर ही डाला—जिसकी लोकोत्तर प्रतिभा और अतुल परिश्रम से आज उस गुहा का द्वार खुल गया जिसमें अनेक शताब्दियों से अमूल्य विज्ञान-रत्न-राशि छिपी पड़ी थी, आज इस गुहा में प्रवेश करना कठिन नहीं । अस्तु !

वह व्यक्ति कौन था ? वे थे हमारे चरित्र-नायक गुरुवर, जयपुर राज्य के प्रधान राजपण्डित, समीक्षा-चक्रवर्ती, वेद विद्या वारिधि, पण्डितरत्न, विद्यावाचस्पति

स्वर्गीय श्री मधुसूदन ओझा । श्री ओझा जी का वैदिक-अन्वेषण-सम्बन्धी कार्य जब पूर्ण रूप से प्रकाश में आएगा, तब विद्वद्जन हमारी इन पंक्तियों की सत्यता का अनुभव करेंगे, यह हमें पूर्ण विश्वास है ।

महापुरुषों का पवित्र जीवनचरित्र जाति की एक सम्पत्ति होती है । कार्यक्षेत्र में उतरने वालों के लिए एक उत्तम आदर्श ही नहीं, एक प्रकाश-शाली दीपस्तम्भ होता है, तथा विद्या-रसिकों के लिए ज्ञानवर्धक और कौतूहलकारी होता है । श्री मधुसूदन जी का चरित्र भी एक इसी प्रकार का चरित्र है जो युगों तक इन विद्या-रसिकों को प्रकाश देता रहेगा ।

विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन ओझा जी का जन्म बिहार प्रान्त में मुजफ्फरपुर जिले के 'गाढ़ा' नामक ग्राम में विक्रम संवत् १९२३ में श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी के दिन रात्रि में १० बजकर ३० मिनट पर हुआ था । जिस मैथिल ब्राह्मण कुल में आपका जन्म हुआ, वह परम्परा से विद्वानों का कुल रहा है । आपसे पूर्व भी इस कुल में अनेक ख्याति प्राप्त विद्वान् हो चुके हैं । आपका बाल्यकाल स्वदेश में ही अपने पिता श्री वैद्यनाथ ओझा जी के पास ही व्यतीत हुआ । आपकी प्रारम्भिक शिक्षा भी अपने पिता जी की ही देखरेख में हुई ।

पं. वैद्यनाथ ओझा जी के बड़े भाई श्री पण्डित राजीव लोचन ओझा जी एक अच्छे विद्वान् थे और उस समय के जयपुर राज्य के अधिपति महाराजा रामसिंह जी के द्वारा पूर्ण सम्मानित होकर उन्हीं के आश्रय में जयपुर में ही रहा करते थे । उनके कोई सन्तान न थी । उन्होंने अपने छोटे भाई के होनहार सुपुत्र, हमारे चरितनायक श्री मधुसूदन ओझा जी को गोद ले लिया और आठ वर्ष की अवस्था में इनका यज्ञोपवीत संस्कार करके इन्हें अपने साथ जयपुर ले आये, और वहीं अपनी देख-रेख में उच्चकोटि के विद्वानों के पास इनके पठन-पाठन की व्यवस्था की ।

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' इस लोकोक्ति के अनुसार श्री पं. मधुसूदन ओझा जी अपने बाल्यकाल से ही बड़े कुशाग्र बुद्धि थे । श्री पं. राजीवलोचन जी जब कभी महाराजा के पास जाते तो बालक मधुसूदन को भी अपने साथ ले जाया करते थे । कभी-कभी महाराजा श्री रामसिंह जी स्नेहपूर्वक बालक मधुसूदन से कोई प्रश्न कर देते तो ये सभ्यता और बुद्धिमत्ता से ऐसा उत्तर

देते कि महाराजा चकित रह जाते और अत्यन्त प्रसन्न होकर बालक की ओर वात्सल्यपूर्ण दृष्टि से देखते। महाराजा श्री रामसिंह जी अपने राजपण्डित श्री राजीवलोचन ओझा जी से कहा करते थे कि बालक मधुसूदन बड़ा होनहार विदित होता है।

एक बार की बात है—श्री मधुसूदन जी अभी बालक ही थे, इनके छोटे चाचा श्री रघुनाथ झा ही इनकी देखभाल करते थे। एक जटाधारी तेजस्वी साधु इनके आंगन में निःशङ्क घुस आया, संयोगवश बालक मधुसूदन वहाँ अकेला खड़ा था। उस साधु ने अपनी झोली से कुछ निकाला और बालक मधुसूदन को हाथ पसारने के लिए कहा। बालक ने हाथ पसार दिया। साधु ने अपनी झोली से निकाली हुई वस्तु को बालक की हथेली पर रखकर कहा कि इसे खा जाओ। साधु के तेज और विचित्र वेष से भयभीत बालक उसकी आज्ञा न टाल सका और उस वस्तु को मुँह में डालकर निगल गया। इधर कमरे में मधुसूदन को न देख उसके चाचा घबराये और एकदम आँगन में आए और वहाँ एक बड़े डील-डौल के भयानक जटाधारी साधु को मधुसूदन के पास खड़ा देखकर उसे झिड़कने लगे, तुम बिना पूछे क्यों अन्दर घुसे? दैवात्, मुँह में कुछ डालते हुये मधुसूदन पर उनकी नजर पड़ गई थी। उन्होंने उससे पूछा कि तुमने बालक को खाने के लिये क्या दिया? साधु ने विनम्र भाव से कहा कि मैंने इस बालक को ब्राह्मी चूर्ण दिया है और कुछ नहीं; ऐसा कहते हुये वह आँगन से बाहर हो गया। घर में बड़ी घबराहट फैल गई कि साधु ने बालक को क्या दे दिया? साधु की ढूढ़ होने लगी, परन्तु उसका कहीं पता न लगा। इस घटना के बाद बालक मधुसूदन के जीवन-क्रम में अद्‌भुत परिवर्तन दिखाई देने लगा। इनकी प्रतिभा चमक उठी। व्याकरण शास्त्र के धुरन्धर विद्वान् मैथिल पण्डित श्री विश्वनाथ जी बालक मधुसूदन के प्रथम गुरु थे, जिनसे इन्होंने 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' पढ़ी, और जयपुर राजकीय संस्कृत-पाठ-शाला के प्रथम प्रधानाध्यक्ष सर्वशास्त्र पारंगत श्री पं. रामभजन जी बालक मधुसूदन के दूसरे गुरु थे, जिनसे इन्होंने "सिद्धान्तकौमुदी" पढ़ी। बालक मधुसूदन के दोनों गुरु इनकी अद्‌भुत प्रतिभा से चमत्कृत थे। ऐसा बुद्धि-वैभव वाला छात्र उन्हें पहले कभी नहीं मिला था।

अभी श्री मधुसूदन ओझा पन्द्रह वर्ष के ही थे दुर्दैववश इनके पोषक पिता श्री राजीवलोचन ओझा जी का अचानक देहान्त हो गया । इनके अध्ययन में यह बड़ा भारी विघ्न हुआ । इसको कथंचित इन्होंने सहा भी, परन्तु दुर्दैव का रोष इतने से ही शान्त नहीं हुआ । कुछ समय बाद महाराजा रामसिंह जी का भी स्वर्गवास हो गया । अब क्या था, स्वर्गीय महाराजा रामसिंह जी की दी हुई जीविका का बहुत सा अंश नये अधिकारियों ने वापिस ले लिया, जितना शेष रहा वह कुटुम्ब-भरण के लिए पर्याप्त नहीं था, आखिर श्री मधुसूदन को अपने घर के लोगों के साथ जयपुर छोड़ना पड़ा और ये बिहारस्थ अपने गाँव चले गये ।

श्री मधुसूदन को विद्याध्ययन का व्यसन लग चुका था । अत: अपने देश में अपनी रुचि के अनुसार पठन-पाठन की सुव्यवस्था न देखकर इन्होंने काशी जाना चाहा, परन्तु घर के लोग इन्हें बाहर भेजने में राजी न थे । 'अपनी अभीप्सित वस्तु को प्राप्त करने के लिए दृढ़ निश्चय वाले मन को, और ढलाव की ओर जाने वाले जल को कौन उलट सकता है ?'[१] विद्या-व्यसनी श्री मधुसूदन ने घर वालों को समझा-बुझा कर अन्तत: अपने अनुकूल कर ही लिया और उन्हें काशी जाने की अनुमति मिल गई ।

काशी पहुँच कर ये दरभङ्गा संस्कृत पाठशाला में प्रविष्ट हुए और वहाँ सर्वशास्त्र निष्णात जगत् प्रसिद्ध विद्वान् श्री शिवकुमार शास्त्री जी के चरणों में बैठकर उनसे विद्याध्ययन करने लगे । लगातार आठ-नौ वर्ष तक अपने गुरुवर श्री शिवकुमार जी की सेवा में रहे और अपने अद्‌भुत बुद्धि-वैभव, प्रखर प्रतिभा और अनवरत अनन्यमनस्क कठोर परिश्रम से आपने व्याकरण, न्याय, मीमांसा, साहित्य, वेदान्त आदि समग्र शास्त्रों का गुरुमुख से केवल अध्ययन ही नहीं किया, अपितु उन पर पूर्ण अधिकार भी प्राप्त कर लिया ।

श्री मधुसूदन, आस्तिक माता-पिता से जन्म पाने के कारण स्वभाव से भी अत्यन्त आस्तिक थे । इनके पोषक पिता श्रीराजीवलोचन ओझा जी के परम मित्र मेरठ निवासी किसी दैवज्ञ विद्वान् ने रुद्रसंहिता के अनुसार उनको इनकी जन्म कुण्डली का फल लिखकर दिया था । उसमें यह भी लिखा था कि 'कामेश्वर

१. 'क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत् ।' (कुमारसंभव ५/५)

भगवान् शिव इस व्यक्ति को भोग और मोक्ष देंगे।'[१] तदनुसार श्रद्धालु श्री मधुसूदन ने अपने काशी निवास के दिनों में श्री कामेश्वर शिव के मन्दिर की खोज की, बहुत पूछ-ताछ के बाद इधर-उधर घूम कर यह मन्दिर इन्हें मिल गया। इस मन्दिर का प्रधान दरवाजा किसी रईस के मकान के भीतर था, एक दरवाजा आम सड़क की ओर भी था, परन्तु उससे केवल दर्शन मात्र हो सकते थे, भीतर प्रवेश करना कठिन था। मन्दिर में प्रवेश के लिए किसी के मकान में घुसना इन्होंने उचित नहीं समझा और बाहर सड़क पर बैठ कर ही भगवान् कामेश्वर शङ्कर की आराधना आरम्भ कर दी। यद्यपि जनता के यातायात से वह सड़क सदा संकीर्ण रहता था, अत: आराधना में बाधा पड़ती थी, परन्तु भगवद्-भक्त बाधाओं की परवाह नहीं करता। श्री मधुसूदन प्रतिदिन आते और पर्याप्त समय तक एकाग्र बैठ कर श्री कामेश्वर की उपासना करते। सच पूछिये तो भगवान् कामेश्वर की ओर से इस विद्यार्थी श्री मधुसूदन की एक परीक्षा ली गयी, जिसमें ये पूरे उतरे। मकान मालिक भी प्राय: प्रतिदिन कामेश्वर पर जल चढ़ाने के लिए मन्दिर में आता था और रोज इनको सड़क की तरफ के दरवाजे के पास बैठे एकाग्र-चित्त से श्री कामेश्वर की उपासना में संलग्न देखता था। एक दिन मकानमालिक की अन्त: प्रेरणा ने उसे बाध्य किया और उसने इनसे सविनय प्रार्थना की कि 'आप अन्दर के दरवाजे से मन्दिर में प्रवेश कीजिये और अन्दर बैठ कर भगवान् की उपासना कीजिये, आप जितनी देर चाहें आनन्द पूर्वक बैठें, आप की पूजा में कोई विघ्न-बाधा उपस्थित नहीं होगी।' उस दिन से ये जितने दिन काशी रहे, उतने दिन मन्दिर के भीतर बैठ कर निर्विघ्न भगवान् कामेश्वर की उपासना करते रहे, यह उपासना भी इनके विद्या लाभ में, बुद्ध्यतिशय और प्रतिभा-प्राखर्य में विशेष सहायक हुई।

उन दिनों बालकों का विवाह कुछ छोटी अवस्था में ही हो जाता था, अत: श्री मधुसूदन जी का विवाह भी १७ वर्ष की आयु में इनकी छात्रावस्था में ही हो गया था। इनके विवाह की एक घटना रोचक और स्मरणीय है। उस समय अलवर राज्य के राजगुरु श्री चञ्चलनाथ झा, जो अनेक शास्त्रों के विद्वान् होते हुए मन्त्र-शास्त्र के विशिष्ट विद्वान् थे, अपनी सुयोग्य कन्या के लिए योग्यतम वर ढूंढ़ रहे थे।

---

१. 'कामेश्वरशिवस्तस्य भुक्तिमुक्तिप्रदायकः।'

बालक मधुसूदन का यश उनके कानों तक पहुँच चुका था। इनको देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए और तुरन्त ही वाग्दान भी कर दिया। एक दिन श्री चञ्चलनाथ जी अपने भावी जामाता श्री मधुसूदन को अपने घर ले गए। भावी श्वशुर और भावी जामाता दोनों घोड़ा-गाड़ी पर सवार होकर ही घर पहुँचे थे। मार्ग में श्री चञ्चलनाथ जी ने वर की योग्यता की परीक्षा के लिए, अथवा यों ही मनोविनोद के लिए एक समस्या इनके सामने रख कर कहा कि इसे पूर्ण कीजिये। वह समस्या थी—'गणयति कष्टमहो न साभिलाषः।' अस्तु, आशुकवि को भी थोड़ा बहुत समय चिन्तन के लिए अपेक्षित होता ही है, परन्तु श्री चञ्चलनाथ जी ने उन्हें सारे रास्ते बातों में लगाए रखा, दो-तीन क्षण का समय भी उन्हें चिन्तन के लिए नहीं दिया, परन्तु घर के दरवाजे पर पहुँचते ही श्री मधुसूदन जी बोले 'पूज्यवर ! पहले समस्यापूर्ति सुन लीजिए, इसके बाद गाड़ी से उतरेंगे। समस्यापूर्ति के एक नहीं दो नहीं, पूरे चार पद्य थे। जिनमें से एक पद्य यह है—

रथ-गज-वाजि-विहारि-कोमलाङ्गः
शिशुरपि राजकुमाररामचन्द्रः।
समुनि पदातिर्वदेति हा विदेहान्
गणयति कष्टमहो न साभिलाषः॥[१]

इस पद्य में विश्वामित्र ऋषि के यज्ञ को निर्विघ्न सम्पन्न करके उनके साथ पैदल ही सीता के स्वयंवर महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए जनकपुर में जाते हुए श्री रामचन्द्र जी का वर्णन है। श्लोक का शब्दार्थ यह है—रथ, हाथी और घोड़े की सवारी पर चलने वाले राजकुमार, कोमलाङ्ग बालक श्री रामचन्द्र भी, खेद है आज, मुनि विश्वामित्र के साथ पैदल ही जनकपुर जा रहे हैं। ठीक है, साभिलाष पुरुष कष्टों की परवाह नहीं करता, वह तो कष्ट सहकर भी अपनी अभिलाषा पूर्ण करता ही है। श्लोक में विशेष चमत्कार यही है कि यह अवसरोचित है। श्री रामचन्द्र ने मुनि विश्वामित्र जी के साथ विवाह के लिए ही यात्रा की थी, आज

---

१. यह पद्य राजगुरु श्री चञ्चलनाथ जी के सुपुत्र श्री रामचन्द्र ओझा जी से प्राप्त हुआ था। श्री रामचन्द्र जी किसी समय अलवर राज्य के हाई कोर्ट के न्यायाधीश थे। अब उनका देहान्त हो चुका है।

श्री मधुसूदन भी मुनि सदृश श्री चञ्चलनाथ जी के साथ विवाह के उद्देश्य से ही यात्रा कर रहे हैं।

काशी में अपना अध्ययन समाप्त करके श्री मधुसूदन जी बूँदी, कोटा, झालरापाटन, नीमच, रतलाम आदि राज्यों के अधिपतियों से प्रसङ्गवश मिले, जिन्होंने इनके वैदुष्य का पूर्ण सम्मान किया। जयपुर में महाराजा रामसिंह जी के बाद श्री माधवसिंह जी राजसिंहासन पर अभिषिक्त हो चुके थे। उनके राजत्व काल में श्री हरिदास बाबू शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष थे। पण्डित जी के अप्रतिम वैदुष्य का डङ्का राजपूताना में प्राय: सब जगह गूँज रहा था। श्री मधुसूदन जी के पालक पिता श्री राजीवलोचन ओझा जी पूर्ण सम्मान के साथ जयपुर राज्य के राजपण्डित रह चुके थे और भूतपूर्व महाराजा के अति विश्वास-पात्र भी थे, अत: श्री हरिदास बाबू ने श्री मधुसूदन जी पर जयपुर राज्य का प्रथम अधिकार समझकर जयपुर राज्य की प्रतिष्ठा के लिए इन्हें आग्रहपूर्वक जयपुर बुला लिया।

जयपुर पहुँचकर आप आरम्भ में राजकीय महाराजा आर्ट्स कालेज में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष बने, और कुछ काल तक संस्कृत कालेज में भी आप वेदान्त के प्रधान पण्डित रहे। धीरे-धीरे श्री मधुसूदन जी का यश महाराजा के कानों तक पहुँच गया। गुणग्राही तो महाराजा थे ही, इनकी अद्‌भुत प्रतिभा से आकृष्ट होकर उन्होंने इन्हें अपने आत्मीयजनों में स्थान दिया। इतना ही नहीं, कुछ काल के बाद अपने निजी पुस्तकालय (पोथीखाना) का प्रबन्ध इनके हाथों में देकर 'मौज मन्दिर नाम से प्रख्यात धर्म सभा का अध्यक्ष भी इन्हें बना दिया। महाराजा माधवसिंह जी प्रतिदिन आपसे कुछ शास्त्रीय चर्चा अवश्य किया करते थे, जिसके कारण आपकी प्रतिभा का प्रभाव दिन प्रति दिन उन पर बढ़ता ही गया। फलत: वे कोई भी धार्मिक कार्य श्री मधुसूदन जी की अनुमति के बिना नहीं करते थे। प्रत्येक यात्रा में महाराजा इन्हें अपने साथ रखते थे, यहाँ तक कि आखेट में भी श्री पण्डित मधुसूदन जी उनके साथ होते थे। पण्डित जी एक अच्छे घुड़सवार भी थे।

पण्डित मधुसूदन जी शास्त्रनिष्णात् तो थे ही, शासन नीति में भी पूर्ण प्रवीण थे। समय-समय पर महाराजा के साथ राजनीति पर भी आप का विचार विनिमय हुआ करता था। थोड़े शब्दों में पण्डित जी के राजकीय सम्मान के विषय में यही

कहा जा सकता है कि वे महाराजा के कृपापात्रों में थे और अन्य कतिपय सामन्तों के समान आदर पाते हुए राजसभा के नवरत्नों में गिने जाते थे।

सन् १९०२ में भारत सम्राट् सप्तम् एडवर्ड के राज्याभिषेक के समय जयपुर राज्याधिपति महाराजा माधवसिंह जी की जो ऐतिहासिक विलायत यात्रा हुई थी, उसका सब धार्मिक आयोजन श्री पण्डित मधुसूदन जी के सत्परामर्शानुसार ही हुआ था, और महाराजा इन्हें भी अपने साथ ले गये थे। वहाँ के अनेक संस्कृत विद्वान् आपसे मिलकर बड़े प्रभावति हुए, अत: शीघ्र ही वहाँ आपकी कीर्ति फैल गई। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के संस्कृत के प्रोफ़ेसर प्रसिद्धतम संस्कृत विद्वान् श्री मैक्डानल्ड, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के संस्कृत विद्वान् विद्वद्वर श्री वैंडाल, इण्डिया आफिस के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री युत् टौने महोदय, और यूरोप जगत् में विख्यात संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् श्रीयुत टॉमस महोदय आदि श्री पण्डित जी से मिलकर बड़े प्रसन्न हुए और इनकी वेद सम्बन्धी वैज्ञानिक विवेचनाओं से विस्मयान्वित हुए। उन्हें यह पहले पहल विदिति हुआ कि वेद भी एक अत्युच्च कोटि का वैज्ञानिक ग्रन्थ है।

श्रीयुत विद्वद्वर टॉमस महोदय बड़े विनोदी भी थे। जब वे श्री पण्डित जी से मिले तो उन्होंने पद्य में ही पण्डित जी से एक प्रश्न किया—

श्रृणोमि लक्ष्म्या मधुसूदनं युतं
पश्यामि तु त्वामिह चैकमागतम्।
मन्ये भवन्तं विबुधं विवेकिनं
कुतस्त्वनैषीन्न सह श्रियं भवान्॥

अर्थात् मैं सुना करता हूँ कि लक्ष्मी सदा मधुसूदन (विष्णु) के साथ रहती है, तुम मधुसूदन हो, पर मैं तुम्हें यहाँ अकेला (धर्मपत्नी के बिना) ही आया हुआ देख रहा हूँ। आप तो विबुध और विवेकी हो। लक्ष्मी को (धर्मपत्नी को) साथ क्यों नहीं लाये?

श्री पण्डित जी ने भी तत्काल पद्य में ही सहृदय जन-रञ्जन उत्तर दिया कि—

मधुसूदनस्य दृष्ट्वा सरस्वती-लालने विशेषरुचिम्।
रोषादिवापसृतां लक्ष्मीमनुनेतुमत्र सोऽभ्यायात्॥

अर्थात् सरस्वती के लालन में मधुसूदन की विशेष रुचि देख कर लक्ष्मी रुष्ट सी होकर यहाँ भाग आई हैं, उसे मनाने के लिए मधुसूदन यहाँ आया है ।

वहाँ के गुणग्राही अनेक संस्कृत-विद्वानों के आग्रह से 'इण्डिया आफिस' में वेद धर्म पर पण्डित जी का संस्कृत में एक अति प्रभावशाली व्याख्यान भी हुआ । उस व्याख्यान को सुनकर पाश्चात्य संस्कृत-विद्वानों ने प्रसन्नता के साथ-साथ विस्मय भी प्रकट किया और कहा कि हम आज वेदों के सम्बन्ध में बिलकुल नई बातें सुन रहे हैं । पण्डित जी ने यह सुनकर अपनी वक्तृता का शीर्षक रखा—'अति नूत्नम्, नहि नहि अति प्रत्नं रहस्यम्—अत्यन्त नवीन, नहीं-नहीं अत्यन्त प्राचीन रहस्य' उस समय लन्दन के अनेक समाचार पत्रों में पण्डित जी की प्रशंसा के लेख छपे थे । 'वेस्टमिनिस्टर गजट' के २६ जुलाई, १९०२ के अङ्क में जो लेख छपा था उसका आशय सरल हिन्दी में यह है—'इस राज्याभिषेक महोत्सव के समय लन्दन नगर में जो-जो महानुभाव पधारे हैं उनमें एक अद्भुत हिन्दू विद्वान् भी है, जिसकी उपस्थिति चिरस्मरणीय रहेगी । भारत का यह एक उज्ज्वल देदीप्यमान प्रकाश है, जो मानव के रूप में वैदिक विज्ञान तथा दर्शनशास्त्र का खजाना है, यह है श्री पण्डित मधुसूदन ओझा । पूर्व से आने वाले विद्वान् दर्शकों में श्री पण्डित मधुसूदन जी ओझा ने धारावाहिक संस्कृत-भाषण से कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या पण्डितों को अत्यधिक चमत्कृत और प्रभावित किया ।

इसी प्रकार 'दि सन्' नामक समाचार पत्र के २३ जुलाई, १९०२ के अङ्क में पण्डित जी के सम्बन्ध में नीचे लिखे आशय का लेख छपा था—

"श्री पण्डित मधुसूदन जी ओझा ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर श्री "मैकडानल्ड" से मिले, प्रोफ़ेसर महोदय श्री पण्डित जी से मिलकर बड़े प्रसन्न हुए । पिछले रविवार को कैम्ब्रिज के प्राध्यापक 'सी बेण्डाल' महोदय ने कैम्ब्रिज में श्री पण्डित जी को निमन्त्रित किया था । श्री बेण्डाल महोदय ने अपनी पत्नी के साथ श्री पण्डित जी का बड़ा स्वागत किया । सबसे अधिक जिस बात से कैम्ब्रिज के प्राच्यविद्या पण्डितों ने पण्डित जी को प्रभावित किया, वह थी—धारा-प्रवाह संस्कृत में पण्डित जी के साथ बातचीत, जो कि इस युग में भारत में भी दुर्लभ है ।

पण्डित जी के गम्भीर पाण्डित्य ने प्रोफ़ेसर सी. बेण्डाल को अत्यधिक प्रभावित किया।

श्री पण्डित जी का लन्दन में हुआ वेद-धर्म पर व्याख्यान संस्कृत रत्नाकर में छप चुका है। पण्डित जी के सम्बन्ध में लन्दन के समाचार पत्रों में छपे अंग्रेजी के मूल लेख भी संस्कृत रत्नाकर के वेदाङ्क में और अन्यत्र भी प्रकाशित हो चुके हैं।

सम्राट् सप्तम् एडवर्ड के अभिषेक के अवसर पर श्री पण्डित जी ने भी संस्कृत पद्यों में उनका अभिनन्दन किया था, और सम्राट् ने भी पण्डित जी के वैदुष्य से प्रसन्न हो उन्हें पदक सहित सम्मान पत्र से सम्मानित किया।

आपके गुरु, जगद्विख्यात, सर्व-शास्त्र-निष्णात श्री शिवकुमार शास्त्री जी ने आपसे गुरुदक्षिणा में यही माँगा था कि 'आज वेद का वास्तविक अर्थ अन्धकार से आवृत हो रहा है, उसे प्रकाशित करके अपनी विद्या, बुद्धि और प्रतिभा का सदुपयोग करो।' श्री शिवकुमार जी ने तत्काल वेद की पुस्तक मंगवा कर श्री मधुसूदन जी को कुछ कण्डिकाएँ पढ़ाई भी, और कहा कि 'आगे तुम स्वयं पढ़ो, भगवदनुग्रह से तुम्हें वेदार्थ भासित होगा। तुम ने गुरुमुख से वे-श्रवण कर लिया है, अब तुम्हारा वेदार्थ-प्रकाशन असाम्प्रदायिक (गुरु-परम्परा से अप्राप्त) नहीं माना जायेगा।'

श्री शिवकुमार जी मधूसुदन जी की अत्यन्त पैनी प्रतिभा से इतने अधिक चमत्कृत हुए थे कि एक बार स्वयं उन्हें अपने मुख से कहना पड़ा कि "दर्शनशास्त्र में मधुसूदन इतना प्रौढ़ हो गया है कि अचानक प्रश्न करने पर भी तत्काल ऐसी अनेक नवीन उपपत्तियाँ उपस्थित करता है, जिनका अनुसन्धान करना हमारे लिए भी अधिक कठिन होता है।" 'प्रकर्षमाधारवशं गुणानाम्'—गुणों का प्रकर्ष आधार पर आश्रित होता है। मैली चादर की अपेक्षा स्वच्छ चादर पर रंग अधिक खिलता है। 'क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति'—योग्यतम वस्तु पर आहित संस्कार अच्छी तरह जमता है, उत्तम फल पैदा करता है। स्वच्छ बर्तन पर कलई अच्छी तरह चढ़ती है—इत्यादि सूक्तियों के श्री मधुसूदन जी उत्कृष्ट उदाहरण थे।

जयपुर आकर श्री पण्डित मधूसूदन जी अपने गुरु जी के आज्ञानुसार वेदाध्ययन में जुट गये। आप अस्वस्थ हो जाने पर भी अपना कार्य तन्मयता से करते ही रहते थे। कार्य संलग्नता की दशा में आपको अपने शरीर की अस्वस्थता का अनुभव ही नहीं होता था। अपने शरीर, स्वास्थ्य, आराम, अर्थोपार्जन आदि की आपने कभी कोई परवाह नहीं की और आजीवन वेदानुसंधान का कार्य करते रहे। आपके जीवन के लगभग ५० वर्ष घोर तपस्या में ही बीते। आपने वेदार्थ नीति को प्रकाशित करने के लिए समस्त मन्त्र संहिताएँ, समस्त ब्राह्मण-ग्रन्थ, समस्त श्रौत सूत्र, समस्त पुराण और महाभारत, रामायण आदि आर्ष ग्रन्थ मथ डाले, जिसके फल स्वरूप वेद रहस्य को उद्घाटन करने वाले सैकड़ों ग्रन्थों की आपने रचना की। आज आपके लिखे २०० से अधिक ग्रन्थ विद्यमान हैं, जिनका परिचय हम दूसरे व्याख्यान में करायेंगे।

आपने अपने हाथों से ही अपने सब ग्रन्थों की पाण्डुलिपि और प्रतिलिपि लिखी है। इनमें थोड़े से ग्रन्थों को छोड़कर शेष ग्रन्थ २०० से ५०० पृष्ठ तक के हैं, कोई-कोई तो इससे भी अधिक विशाल हैं। आपका लेख भी बड़ा सुन्दर छापे के सदृश है। आप चित्रकला में भी बड़े निपुण थे।

राजकार्य और ग्रन्थ लेखन-व्यसन के कारण आप देश भ्रमण नहीं कर सके। इसीलिए आपके असाधारण पाण्डित्य, वैदिक-रहस्योद्घाटन शैली और प्रवचन प्रावीण्य का भारतीयों को भी विशेष परिचय प्राप्त न हो सका, किन्तु जब कभी अनिवार्यतया बाहर जाने का अवसर हुआ तब आपके प्रवचनों से लोगों को सविस्मय आनन्दित होते हुए ही देखा गया। इस प्रकार धीरे-धीरे देश में आपकी ख्याति बढ़ने लगी।

सन् १९०६ ई. में काशी में कांग्रेस के अधिवेशन के अवसर पर और प्रयाग में सन् १९०५ में कुम्भ के समय पर 'भारत धर्म महामण्डल' के जो महाधिवेशन हुए थे, उनमें सभी भारतीय नरेशों को सानुरोध निमन्त्रण भेजा गया था। जयपुर राज्य की ओर से श्री पण्डित मधुसूदन जी ही उनमें सम्मिलित हुए थे। उस समय भूतपूर्व दरभङ्गा नरेश श्री रामेश्वरसिंह जी के सभापतित्व में आपका भाषण सुनकर न केवल काशी की तथा बाहर से आई हुई विद्वन्मण्डली ही नहीं, अपितु पाश्चात्य

शिक्षा-दीक्षा-युत बड़े-बड़े प्रतिष्ठित विद्वान् भी मुग्ध हो गये थे । बुहत दिनों तक आपकी ख्याति समाचार-पत्रों में प्रकाशित होती रही । उसी अवसर पर भारत धर्म महामण्डल की ओर से आपको 'विद्यावाचस्पति' और 'महामहोपदेशक' इन दो उपाधियों से विभूषित किया गया था । इसके अतिरिक्त लाहौर, कलकत्ता आदि नगरों में भी आपके अत्यन्त प्रभावशाली वेद-विषय-सम्बन्धी प्रवचन हुए थे और स्थानीय विद्वानों ने जन-समारोह में अभिनन्दन पत्र भेंट करके आपको सम्मानित किया था ।

अनेक शास्त्रों के आचार्य बड़े-बड़े विद्वान् आपके चरणों में बैठ कर वेद-विद्या का अध्ययन करने हेतु आते थे । देश-विदेश से भी लोग अपनी शङ्काओं के समाधान के लिए आपके पास उपस्थित होते थे ।

वर्तमान जयपुर नरेश श्री महाराजा मानसिंह जी के प्रारम्भिक गुरु आप ही थे । वर्तमान अलवर नरेश महाराजा तेजसिंह ने अपने यज्ञोपवीत के समय आप से दीक्षा ग्रहण की थी । स्वर्गीय भूतपूर्व महाराजा किशनगढ़, स्वर्गीय भूतपूर्व काशी नरेश और स्व. श्री शाहपुराधीश भी आपके अनन्य प्रशंसक थे । दरभङ्गा नरेश स्वर्गीय महाराजा रामेश्वरसिंह जी आप से बड़ा प्रेम करते थे और साथ ही आपकी अद्वितीय विद्वत्ता को अपना निजी गौरव समझते थे । इतने पर भी इन अपने बड़े-बड़े अनुरागी राजाओं और महाराजाओं से विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन ने कभी किसी प्रकार की कोई भी याचना नहीं की । आप स्वतन्त्र प्रकृति के निस्पृह और निरपेक्ष व्यक्ति थे । आपका स्वभाव सरल और शान्त था, आपका रहन-सहन भी सादगी का था । संसार में रहकर भी आप कमलपत्र की तरह संसार से अलग थे । यह आपका एक अलौकिक गुण था । आपको किसी प्रकार का कोई शौक या व्यसन नहीं था । यदि कोई व्यसन था तो एक मात्र वेदोदधि-मन्थन का, और उससे अनेक चमकीले विज्ञान-रत्न प्राप्त करने का । आपकी धर्मपत्नी का देहान्त आपकी ३९ वर्ष की अवस्था में ही हो गया था, फिर भी वेद-विद्यामात्र-व्यसनी श्री मधुसूदन जी ने दूसरा विवाह नहीं किया । आपकी एकमात्र सन्तान श्री प्रद्युम्न ओझा हैं, जो आपके ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए प्रयत्नशील हैं ।

इनमें एक खास बात यह देखी गई थी कि ये निरन्तर गूढ़तम तत्त्वों के विचार में निरत रहते थे, किन्तु इनका मस्तिष्क अश्रान्त रहता था । हाँ, शरीर इनका जरूर कृश हो गया था, क्योंकि बहुत कम भोजन करते थे, कभी-कभी तो लिखने-पढ़ने की धुन में भोजन करना भी भूल जाते थे । दो-चार बार बुलावा भेजने पर ही भोजन के लिए जाना तो प्राय: नित्य नियम सा ही हो गया था ।

श्री विद्यावाचस्पति मधुसूदन जी के शिष्यों की संख्या भी कम नहीं है । मैं भी श्री पण्डित जी महाराज के शिष्यों में से एक हूँ, और अपने जीवन के प्राय: चालीस वर्षों तक उनके चरणों में बैठ कर अध्ययन करता रहा हूँ । पण्डित जी महाराज की मृत्यु से तीन दिन पूर्व भी मेरा पाठ हुआ था ।

विक्रम संवत् १९९३ में अखिल-भारतीय-संस्कृत-साहित्य-सम्मेलन की ओर से जयपुर के गण-मान्य सरदारों, सेठ-साहूकारों और विद्वानों की स्वागत समिति के निरीक्षण में विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन जी की हीरक जयन्ती मनाई गई थी । यह महोत्सव श्रीपण्डित जी की ७० वीं वर्ष गाँठ के दिन आचार्य-प्रवर गोस्वामी श्री १००८ श्री गोकुलनाथ जी महाराज, शुद्धाद्वैतसंप्रदायाचार्य, बम्बई के सभापतित्व में रामनिवास बाग के अलबर्ट हाल में हुआ था । इस अवसर पर श्री पण्डित जी के अभिनन्दन के लिए बाहर के भी अनेक प्रतिष्ठित विद्वान् उपस्थित हुए थे, जिनमें म. म. श्री हाथी भाई शास्त्री-राजपण्डित जामनगर, (काठियावाड़) म. म.पं. मथुराप्रसाद दीक्षित-राजपण्डित सोलन, (हिमाचल-प्रदेश) विद्यामार्तण्ड पं. सीताराम जी शास्त्री-भिवानी, आदि मुख्य थे । इसमें 'संस्कृत-रत्नाकर' मासिक पत्र का 'वेदाङ्क' नामक विशेषाङ्क और अभिनन्दन पत्र श्री पण्डित जी महाराज को समर्पित किये गये थे ।

विद्यावाचस्पति श्री पं. मधुसूदन जी के व्याख्यानों को सुनकर बहुत से पण्डित कह बैठते थे कि वेदार्थ के सम्बन्ध में श्री पण्डित जी का भी एक संप्रदाय है । इस बात को सुनकर श्री पण्डित जी बड़े दुखी होते थे । संवत् १९९२ की बात है, हिन्दू विश्वविद्यालय की पञ्चमहाभूत परिषद् में सम्मिलित होने के लिए आप काशी पधारे हुए थे । उस समय काशी की विद्वत्सभा ने म. म. श्री प्रमथनाथ भट्टाचार्य जी के सभापतित्व में आपको मान-पत्र अर्पित किया था । यह आयोजन काशी के

मानसमन्दिर में हुआ था। इस अवसर पर विद्वत्प्रवर श्री हारानचन्द्र भट्टाचार्य जी ने अपनी वक्तृता में यह कह दिया था कि जिस प्रकार शङ्कर, रामानुज आदि अनेक आचार्य विभिन्न सम्प्रदायों के प्रवर्तक हुए हैं, उसी प्रकार विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन जी भी एक विशेष संप्रदाय के प्रवर्तक हैं। इस पर श्री पण्डित जी अत्यन्त अप्रसन्न हो सभा से उठकर चलने लगे। सभापति महोदय ने बड़े अनुनय-विनय के साथ किसी प्रकार आपको शान्त किया। विद्यावाचस्पति जी यह कभी नहीं सुनना चाहते थे कि वे कोई नया सम्प्रदाय चला रहे हैं। उनका तो केवल इतना ही लक्ष्य था वेदार्थ-विशकलन की प्राचीन परिपाटी को, जिसकी परम्परा अब कालवश विच्छिन्न हो चुकी हैं, उसकी ओर वर्तमान विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करके पुनर्जागरित किया जाय।

प्रत्येक शास्त्र में एक नियत परिभाषा रहती है—जिसके आधार से ही उस शास्त्र का मर्म भली प्रकार जाना जा सकता है। इसी प्रकार वेद के रहस्य को जानने की भी कुछ परिभाषाएँ हैं, उनके जाने बिना वेदार्थ जानने का प्रयत्न करना अन्धेरे में तीर मारने के समान है। वे परिभाषाएँ अब समय के प्रभाव से विस्मृत हो चुकी हैं। तत्सम्बन्धी ग्रन्थ काल के गाल में समा गए हैं। उन परिभाषाओं का स्फुटीकरण ही ओझा जी ने अपने ग्रन्थों में किया है। उन परिभाषाओं को ठीक तरह समझ लेने से उपलब्ध वेदभाष्यों में ही सब कुछ मिल सकता है। इसीलिए श्री पण्डित जी ने नया वेदभाष्य न लिखकर, उन परिभाषाओं को ही विद्वानों के सामने रखने का यत्न किया है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब वे वेदार्थ-विवरण की परिभाषाएँ एकदम लुप्त हो चुकीं, तब श्री पण्डित जी को उनका ज्ञान कैसे हुआ? इसका उत्तर यह है कि मनोयोग के साथ वेदाध्ययन से ही ये परिभाषाएँ उन्हें प्राप्त हुईं वेदों में यज्ञ की प्रधानता है—यह तो वेदों के साधारण अध्ययन से भी विदित हो जाता है। यजुर्वेद संहिता, यज्ञक्रम से ही संग्रथित हुई है। शुक्ल यजु:संहिता के बीस अध्यायों के मन्त्रों का पाठ उसी क्रम से है—जिस क्रम से उनका यज्ञ में उच्चारण होता है। हाँ, कृष्ण यजु: संहिता में मन्त्र और ब्राह्मण मिश्रित रहने के कारण मन्त्रों का क्रम स्पष्ट प्राप्त नहीं होता। ब्राह्मण तो प्राय: सभी मन्त्र संहिताओं की यज्ञ प्रक्रिया के अनुसार ही संघटित हैं। शतपथ-ब्राह्मण में यह प्रक्रिया इस प्रकार है—पहले

यज्ञ के किसी कर्म का विधि-वाक्य है, तदनन्तर उस कर्म की उपपत्ति बताई गई है कि वह कर्म क्यों करना चाहिये । उसी उपपत्ति प्रदर्शन में कई जगह आख्यायिकाएँ और सृष्टि प्रकरण भी आ जाते हैं । उन आख्यायिकाओं आदि का भी तात्पर्य उसी कर्म के उपपादन में ही होता है । अन्यान्य ब्राह्मणों में भी प्राय: सही क्रम चलता है, शतपथ ब्राह्मण में यह क्रम जरा अधिक स्पष्ट है । उन उपपत्ति भागों पर विचार करने से यह स्पष्ट भाषित होता है कि यज्ञ दो प्रकार के हैं—एक प्राकृत यज्ञ, दूसरे विधि के अनुसार मानव द्वारा अनुष्ठेय यज्ञ । प्रकृति स्वयं एक प्रकार का यज्ञ करती है, उसी यज्ञ से सम्पूर्ण प्रजा की उत्पत्ति और उसका पालन होता है । भगवद्गीता के तृतीय अध्याय में भगवान् का यह स्पष्ट उपदेश[१] है कि प्रजापति ने प्रजा को यज्ञ के साथ ही उत्पन्न किया और यह उपदेश दिया कि तुम भी यज्ञ से ही प्रजा को आगे बढ़ाते रहना । उस प्राकृत यज्ञ के आधार पर ही मनुष्यों को यज्ञ का उपदेश श्रुति[२] ने दिया है और इस मनुष्यानुष्ठेय यज्ञ की उपपत्ति के लिए प्राकृत यज्ञ के ही विषय बताये जाते हैं ।

मीमांसादर्शन में विधि भाग को ही मुख्य माना गया और उपपत्ति भाग को अर्थवाद कह कर उसकी उपेक्षा की गई है । कदाचित् वह युग ही इसी प्रकार का था । उस समय श्रुति वाक्यों पर जनता की अटूट श्रद्धा थी । जो कुछ श्रुति ने कहा वह बिना 'ननु न च' के शिरोधार्य और पालनीय है—यही जनता की भावना थी । 'ऐसा क्यों करें ?' यह प्रश्न उठाना ही उस समय एक प्रकार का अपराध माना जाता था । अत: ऐसा प्रश्न उस समय उठता ही न था । शायद, इसीलिए आलङ्कारिक लोग श्रुति को प्रभुसम्मित उपदेश मानते थे । प्रभु की आज्ञा में सेवक को 'क्यों करूं'—ऐसा प्रश्न करने का अधिकार नहीं है । उसका काम तो आज्ञा-पालन करना मात्र है ।

पर वस्तुत: बात ऐसी है नहीं, क्योंकि स्वयं श्रुति ही 'किमर्थं' वा अप उपस्पृशति—कर्म के आरम्भ में यजमान जल का आचमन क्यों करें ऐसा प्रश्न

---

१. सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ गीता ३/१० ॥

२. दैवान् अनुविधा वै मनुष्याः, यद्देवा अकुर्वन् तदहं करवाणि । शतपथ ब्राह्मण

उठाती है और 'आपो वै मेध्याः—जल मेध्य (पवित्र) होता है' इत्यादि कह कर उसका समाधान करती है। इसके अतिरिक्त बात कुछ और भी है। उस युग में बौद्ध आदि वेद-विरोधियों के प्रबल आक्रमण से वेदों पर जनता की श्रद्धा क्रमशः क्षीण हो रही थी, वैदिक यज्ञों की प्रथा भी धीरे-धीरे लुप्त हो रही थी। प्रयोजनाभाव के कारण गुरुमुख से वेदाध्ययन की परम्परा भी टूट रही थी। जहाँ कहीं कुछ थी भी, वह केवल अर्थज्ञान शून्य मूल संहिता मात्र के अध्ययन की परम्परा थी। वेद का उपपत्ति भाग दर्शनशास्त्र के साथ सम्बन्ध रखने के कारण कुछ जटिल भी था। अतः—

सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः।

इस कहावत के अनुसार मीमांसकों ने उपपत्ति भाग पर विशेष ध्यान नहीं दिया। विधि-भाग और यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों की ही रक्षा को आवश्यक समझा। उपपत्ति-भाग को विधि-भाग का प्रशंसक अर्थवाद मात्र कह कर छोड़ दिया। परिणाम क्या हुआ? इन अर्थवादों में संकेतित प्राकृत यज्ञ-विज्ञान एकदम लुप्त हो गया और इन अर्थवाद वाक्यों की कीमत समाचार पत्रों में छपने वाले दवाइयों के प्ररोचक विज्ञापनों से अधिक नहीं रह गई।

यद्यपि सिद्धार्थ प्रतिपादक वाक्यों को अर्थवाद कहकर उपेक्षित करने की इस प्रवृत्ति का खण्डन उत्तर मीमांसा के रचयिता श्री व्यास जी ने और भाष्यकार श्री शङ्कराचार्य जी ने जोरों से किया, परन्तु उनका वह खण्डन उपनिषदों तक ही सीमित रहा। ब्राह्मणों और आरण्यकों में मनुष्यानुष्ठेय यज्ञ की उपपत्ति बताने वाले प्राकृत यज्ञ-विज्ञान के सूचक प्रकरणों के उद्धार की ओर उनकी भी दृष्टि नहीं गई।

आधुनिक विद्वानों में स्वतन्त्र विचारक श्री विद्यावाचस्पति मधुसूदन जी ही ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने मीमांसकों के द्वारा उपेक्षित इन अर्थवाद-वाक्यों का विशेष रुचि और अवधान से अध्ययन किया, इन्हीं अर्थवाद वाक्यों से इन्हें वेद सम्बन्धी वे परिभाषाएँ प्राप्त हुई हैं, जिनसे वेदार्थ समझने में बड़ी सहायता प्राप्त होती है। इन्हीं परिभाषाओं का पण्डित जी ने अपने ग्रन्थों में विषय विभाग द्वारा विस्तार से

वर्णन किया है । पण्डित जी की यह प्रतिज्ञा[१] है कि मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद राशि से जो कुछ मुझे प्राप्त हुआ है, उसे ही मैंने अपने ग्रन्थों में लिखा है, निर्मूल और नई बात कुछ नहीं है । यदि कुछ नवीनता है तो विषयों के प्रदर्शन के प्रकार में है ।

साम्प्रदायिक आचार्यों के सिद्धान्त से न तो श्री विद्यावाचस्पति जी का कोई विद्वेष है और न ये किसी एक आचार्य के सिद्धान्त से बँधे हुए हैं । आचार्यों के जो सिद्धान्त इन्हें वेद में भासित हुए, उनका इन्होंने संग्रह किया और जिन अंशों में वैदिक प्रमाण प्राप्त नहीं हुए, उनका उन्होंने परित्याग किया । जैसे—सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म सृष्टि का अभिन्न निमित्तोपादान है, उसकी सहकारिणी माया अनादि है, किन्तु वह स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखती तथा भेदाभेद रूप से अथवा सत्त्व असत्त्व रूप से अनिवर्चनीय है । माया रहित ब्रह्म शुद्ध, निर्गुण और निर्विशेष है, वह मन-वाणी का विषय नहीं होता-इत्यादि श्री शङ्कराचार्य जी के सिद्धान्त इनके ग्रन्थों में आए हैं और दृढ़ युक्तियों से समर्थित हुए हैं, किन्तु श्री शङ्कर का जगन्मिथ्यात्ववाद श्री विद्यावाचस्पति जी के ग्रन्थों में नहीं मिलेगा, क्योंकि इन्हें इस सम्बन्ध में कोई वैदिक प्रमाण नहीं मिला । 'मिथ्या' शब्द का भी इनके मत से दूसरा ही अर्थ है ।

श्री शङ्कराचार्य ने केवल मूलतत्त्व के निरूपण को ही अपने ग्रन्थों में प्रधानता दी है । एक ही निर्विशेषतत्त्व से यह सम्पूर्ण जगत् कैसे बन गया—इसकी प्रक्रिया के प्रतिपादन पर उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया । अवान्तर प्राण आदि तत्त्वों के निरूपण पर भी उनका बहुत थोड़ा ध्यान रहा है । प्राण के प्रकरण में तो उन्होंने स्पष्ट रूप से कह भी दिया है कि 'मूल तत्त्व के सम्बन्ध में उपनिषदों का एक ही सिद्धान्त है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' और यही हमारा भी प्रतिपाद्य है । इसी की अवगति से ही मोक्ष-प्राप्ति श्रुति मानती है, अवान्तर प्रक्रिया में मतभेद हो भी तो उनसे कुछ बनता बिगड़ता नहीं' इत्यादि । परन्तु श्री विद्यावाचस्पति जी ने सृष्टि की अवान्तर प्रक्रिया में भी श्रुति आदि का समन्वय विस्तार से बताया है । यही इनकी विशेषता है । आजकल की जनता और विद्वान् कोरे मोक्षलोलुप नहीं हैं, वे बिना अवान्तर सङ्गति

---

१. यत्र प्रदर्श्या विषयाः पुरातना यत्र प्रकारोऽभिनवः प्रदर्शने ।
यत्र प्रमाणं श्रुतयः सयुक्तयस्तद्ब्रह्म-विज्ञानमिदं विमृष्यताम् ॥ (इन्द्र विजय)

के मूल तत्त्व पर भी विश्वास नहीं करते। मूलतत्त्व निरूपण को भी वे उपपत्ति से ही समझना चाहते हैं। इसलिए भी इनके निरूपण की प्रक्रिया अधिक समयोपयोगी है।

इसके अतिरिक्त 'जगत् उत्पन्न ही नहीं होता' जीवों को केवल उसकी भ्रान्ति हो रही है'—इस श्री गौडपादाचार्य से उद्भावित और श्री शङ्कराचार्य द्वारा समर्थित और पल्लवित 'अजातवाद' को श्री विद्यावाचस्पति जी ने अपने ग्रन्थों में स्थान नहीं दिया, किन्तु इस सिद्धान्त का और प्रकार से समन्वय किया है।

इसी प्रकार 'सृष्टि का उपादान होता हुआ भी ब्रह्म स्वयं अविकृत ही रहता है'—यह श्री वल्लभाचार्य का 'अविकृत-परिणामवाद' भी विद्यावाचस्पति जी के ग्रन्थों में प्राप्त होता है। 'विकारों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उनमें ब्रह्म की ही सत्ता अनुस्यूत है, ब्रह्म की सत्ता से ही वे सत्तावान् हैं'—यह भी इनके ग्रन्थों में विस्तार से प्रतिपादित है। 'सत्ता एक होने के कारण ही अद्वैत है' इस विषय को अनेक दृष्टान्तों से इन्होंने अपने 'ब्रह्म-सिद्धान्त' ग्रन्थ के निर्विकाराधिकरण में समझाया है, किन्तु श्री वल्लभाचार्य के इस सिद्धान्त को कि 'शक्ति भी ब्रह्म से ही प्रादुर्भूत है' श्रुतियों में प्राप्त न होने से श्री विद्यावाचस्पति जी ने नहीं माना। आगम-शास्त्र में 'अपने स्वरूप से अपनी शक्ति को परम शिव पृथक् करते हैं' यह प्रक्रिया मिलती है। बहुत सम्भव है कि श्री वल्लभाचार्य ने भी वहीं से ली हो, किन्तु उपनिषदों में इस प्रकार का विवरण प्राप्त नहीं होता, अतः विद्यावाचस्पति जी ने इस अंश को छोड़ दिया।

एवं सृष्टि के उत्पादन में "बल शब्द से प्रतिपादित प्रकृति की ही प्रधानता है, किन्तु प्रकृति स्वतन्त्र नहीं, वह 'रस' पद वाच्य ब्रह्म से ही रस प्राप्त करती है, अतः उसके अधीन है।" यह इनका सिद्धान्त श्री रामानुजाचार्य जी के सिद्धान्त से मेल रखता है, किन्तु 'मूलतत्त्व रूप ब्रह्म में स्वतः सिद्ध अनन्त कल्याण गुण हैं, मूलतत्त्व स्वयं त्रिरूप है' यह श्री मधुसूदन जी ने नहीं माना।

'ब्रह्म-सिद्धान्त' ग्रन्थ के वैधर्म्याधिकरण में 'रस और बल में भेद अभेद दोनों हैं' ऐसा श्री पण्डित जी ने लिखा है, जो कि श्री निम्बार्काचार्य और श्री

भास्कराचार्य के सिद्धान्त से मिलता-सा प्रतीत होता है, किन्तु भेद और अभेद दोनों को उच्छृङ्खल न मानकर अनिर्वचनीयता में ही इन्होंने पर्यवसान माना है ।

इसी प्रकार 'संसारावस्था में जीव, जड़ आदि सब अपने अपने तन्त्र का स्वतन्त्रता से परिचालन करते हैं'—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन श्री मध्वाचार्य के द्वैतवाद से मिलता-सा प्रतीत होता है । किन्तु मूल स्थिति में विद्यावाचस्पति जी द्वैत का स्पर्श भी सहन नहीं करते । यों सभी आचार्यों के सिद्धान्तों से न्यूनाधिक रूप में इनकी प्रक्रिया मिलती है, परन्तु पूर्णतया अनुगमन किसी भी एक आचार्य का नहीं है । पूर्ण अनुगमन तो मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद का ही है ।

निष्कर्ष यह है कि 'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्'—एक ही ब्रह्म से सम्पूर्ण प्रपञ्च का उद्‌भव है—इस सिद्धान्त को श्रुति पर श्रद्धा होने के कारण ही विद्वान् मानते आए हैं, किन्तु विद्यावाचस्पति जी के ग्रन्थों को मनन पूर्वक पढ़ लेने पर 'एक ब्रह्म से कैसे यह विविध जगत् उत्पन्न हो गया'—यह सिद्धान्त उपपत्ति-सिद्ध और बुद्धि-गम्य प्रतीत होने लगता है । विचारक की बुद्धि स्वयं मानने लगती है । कि जगत् की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई होगी । 'ब्रह्म अपनी शक्ति से जगत् का उत्पादन करता है'—यह सिद्धान्त श्रुति, पुराण, आगम आदि में पढ़ सुन लिया जाता है, किन्तु वह शक्ति कैसी है, किस प्रकार उससे जगत् की उत्पत्ति होती है—इत्यादि बातें इनके ग्रन्थों का मनन करने पर ही बुद्धि में बैठती हैं ।

जिन प्राचीन शैली के विद्वानों को यह सन्देह है कि विद्यावाचस्पति जी ने आधुनिक विज्ञान के आधार पर ही अपने ग्रन्थ रच डाले हैं और वेद में यत्र-तत्र उपलब्ध प्रकीर्ण वचनों से उनका समर्थन कर दिया है, वे विद्वान् यदि इनके ग्रन्थों का अच्छी तरह अध्ययन और मनन करें तो उन्हें स्वयं विदित हो जायेगा कि यह सन्देह एकदम निराधार है । उनकी दृष्टि स्वच्छ हो जायेगी और वे देखेंगे कि आधुनिक विज्ञान जहाँ तक पहुँचा है उससे बहुत दूर आगे तक का निरूपण इनके ग्रन्थों में है, जिसका स्वप्न भी अभी तक आधुनिक विज्ञान नहीं देख सका है, जो कुछ विद्यावाचस्पति जी ने कहा है—उसका आधार मुख्यतः श्रुति, तदनुसारिणी स्मृति और सूत्र हैं । श्रुति, स्मृति और सूत्रों के विरुद्ध विद्यावाचस्पति जी ने कुछ नहीं लिखा ।

जिन वैदिक शब्दों का प्राचीन वास्तविक अर्थ संयोगवश वर्तमान में अज्ञानान्धकार में पड़ा हुआ था, उनके उस वास्तविक अर्थ का निर्णय भी श्री विद्या-वाचस्पति जी ने श्रुति-स्मृति के आधार पर ही किया है । यदि विद्वान् महानुभाव, दुराग्रह छोड़कर श्री पण्डित जी के मार्ग का अनुशीलन करें तो आज के युग में भी भारत का मस्तक संसार में ऊँचा हो सकता है और वेदों का यथार्थ गौरव संसार में प्रख्यापित किया जा सकता है । इतना ही नहीं, जिन गुत्थियों को आधुनिक विज्ञान अभी तक नहीं सुलझा सका है, उन्हें सुलझाने में उसे भी बड़ी सहायता मिल सकती है ।

जिन वेद श्रद्धालु विद्वान् महानुभावों की यह धारणा है कि वेद में इस प्रकार का भौतिक विज्ञान हो ही नहीं सकता, उनसे हमारा इतना ही निवेदन है कि वे—

भूतं भवद् भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ।[१]

इत्यादि मन्वादि की उक्तियों पर हरताल न लगावें । ऐसा करने से उनका वेद पर विद्वेष ही अभिव्यक्त होगा, श्रद्धा नहीं ।

कुछ विद्वान् कहते हैं कि सम्भवतः विद्यावाचस्पति जी ने अपनी बुद्धि की कल्पनाओं से अधिक काम लिया है । उनकी इस सम्भावना का उत्तर श्री विद्यावाचस्पति जी ने अपने 'ब्रह्म सिद्धान्त' ग्रन्थ के आरम्भ में ही दे दिया है—

ग्रन्थास्तु लभ्यन्त इहाद्य वैदिका
ये ये तथा तेषु च यान् लभामहे ।
विज्ञानबिन्दून् परितश्चितान् इमान्
संगृह्य तान् दर्शयितुं यतामहे ॥
वेदोक्तवादान् प्रतिपद्य तेषां
समन्वयायैष कृतः प्रयत्नः ।
असाधु यत् तत्र स नः प्रमादः
यत् साधु सर्वः स ऋषिप्रसादः ॥

---

१. मनुस्मृति १२/९७ ।

अर्थात् वैदिक वाङ्मय के बहुत से ग्रन्थ विलुप्त हो गये हैं, जो मिलते हैं, उनमें वैज्ञानिक सिद्धान्त यत्र तत्र बिखरे हुए हैं। उनका क्रमबद्ध संग्रह नहीं है। भिन्न-भिन्न स्थलों पर विकीर्ण सिद्धान्तों की शृङ्खला-बद्ध करने में तो बुद्धि का ही सहारा लेना पड़ता है। जहाँ तक यह प्रयास सफल हुआ जान पड़े, उसे ऋषियों का ही प्रसाद समझिये, यदि उसमें कोई दोष है, तो वह मेरी अपनी ही भूल है।

स्वनामधन्य विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन जी ने अपनी सद्विद्या, सूक्ष्मबुद्धि और विलक्षण प्रतिभा का सदुपयोग किया है। जिन सिद्धान्तों को लगभग हजार वर्ष से बड़े-बड़े विद्वान् भी न जान पाए थे, उन रहस्यभूत, अज्ञानान्धकार में छिपे हुए सिद्धान्तों को अपने सतत परिश्रम से आधुनिक विद्वानों के आगे निधिरूप में समर्पित किया। अब भारतीय विद्वानों का, उनमें भी विशेषत: भारतीय वैज्ञानिकों का यह कर्तव्य है कि वे पण्डित जी की दी हुई निधि की निष्पक्ष परीक्षा करें। यदि वह परीक्षा की कसौटी पर खरी उतरती है तो उसका प्रचार और प्रसार करके भारत का मस्तक ऊँचा करें।

विद्यावाचस्पति जी के ग्रन्थों में से आज तक प्राय: ४० ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, शेष ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए यत्न चल रहा है। श्री मधुसूदन ओझा जी ७३ वर्ष की अवस्था में केवल तीन दिन अस्वस्थ रहकर संवत् १९९६ की भाद्र शुक्ल पूर्णिमा को ब्रह्मलीन हो गये। आज ये अपने स्थूल शरीर से भले ही हमारे बीच में नहीं हैं, परन्तु अन्धकारावृत वेद मार्ग को प्रकाशित करने वाले दीपस्तम्भ के सदृश इनके ग्रन्थ-रत्न जब तक संसार में विद्यमान हैं, तब तक ये हमारे मध्य में माने जायेंगे और सदा हमें मार्गदर्शन कराते रहेंगे।

श्री मधुसूदन ओझा की कृतियाँ

वर्षों वेद, वेदाङ्ग, पुराण, इतिहास आदि का अध्ययन और मनन करने के अनन्तर ही श्री पं. मधुसूदन ओझा जी ने ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया और अपने प्रतिपाद्य विषयों को पहले पांच वर्गों में बाँटा, फिर उनमें भी अवान्तर विषय-विभाग किया। इनके ग्रन्थों के पाँच वर्ग इस प्रकार हैं—ब्रह्म-विज्ञान, यज्ञ-विज्ञान, इतिहास, वेदाङ्ग-समीक्षा और आगम-रहस्य।

इनमें ब्रह्म-विज्ञान सम्बन्धी छोटे बड़े चालीस ग्रन्थ हैं। यज्ञ-विज्ञान सम्बन्धी बीस, इतिहास सम्बन्धी अट्ठारह, वेदाङ्ग-समीक्षा के तीस और आगम-रहस्य के एक सौ बीस ग्रन्थ हैं। इस प्रकार श्री ओझा जी के ग्रन्थों की संख्या कुल दो सौ अट्ठाईस २२८ होती है। इनमें कुछ थोड़े से ग्रन्थ ऐसे भी हैं—जो पण्डित जी के अन्तिम दिनों में इनके अस्वस्थ रहने के कारण या दूसरे किन्हीं कारणों से अपूर्ण रह गये हैं। इन सब ग्रन्थों का एक संक्षिप्त प्रकरण में परिचय दे सकना कठिन होगा, फिर भी मैं इनके कतिपय मुख्य ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय देने का यत्न कर रहा हूँ।

१. ब्रह्मविज्ञान

ब्रह्म-विज्ञान को पण्डित जी ने सात भागों में विभक्त किया है—दिव्यविभूति, उक्थवैराजिक, आर्यहृदय-सर्वस्व, निगमबोध, विज्ञानमधुसूदन, विज्ञानप्रवेशिका और पाश्चात्यविज्ञान-पञ्चिका। इनमें 'दिव्यविभूति' ब्रह्म विज्ञान की भूमिका स्वरूप है। इसमें यही बताया गया है कि विज्ञान-शास्त्र क्या है? सबसे पहले इसका प्रवर्तक कौन हुआ? कौन-कौन महर्षि इसके प्रसारक और प्रचारक हुए? इस शास्त्र में किस-किस विषय पर विचार किया गया है? विज्ञान-शास्त्र के कितने भेद हैं? और किस देश में सबसे पहले इसका प्रचार हुआ इत्यादि। दिव्यविभूति

विभाग के इन विषयों का निरूपण करने के लिए श्री पण्डित जी ने पृथक्-पृथक् पाँच ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें पहला ग्रन्थ है 'जगद्गुरुवैभव'। मुण्डकोपनिषद् की पहली श्रुति है—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव, विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्या-प्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥

अर्थात् देवों में ब्रह्मा ही सबसे पहले हुए जो विश्व के कर्ता और रक्षक हैं। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को ब्रह्म-विद्या का उपदेश किया। यह ब्रह्म-विद्या सब विद्याओं की प्रतिष्ठा है—मूल हैं। इस श्रुति से सिद्ध है कि ब्रह्मा ही ब्रह्म-विद्या के आदि स्रोत थे। प्रश्न होगा—क्या ये ब्रह्मा कोई ऐतिहासिक व्यक्ति थे ? अथवा इनका कोई वैज्ञानिक स्वरूप भी है ? ऐतिहासिक ब्रह्मा कौन थे ? कब और कहाँ हुए ? वैज्ञानिक ब्रह्मा का क्या स्वरूप है ? दोनों ब्रह्माओं का विश्वकर्तृत्व और विश्वगोप्तृत्व किस प्रकार है ? वैज्ञानिक अथर्वा कौन हैं ? और ऐतिहासिक अथर्वा कौन हैं ? इत्यादि विषयों का "जगद्गुरुवैभव" में निरूपण किया है। प्रसङ्गवश पुराण और इतिहास का भेद, पुराणों की संख्या, विषय और क्रम आदि का भी इसमें निरूपण किया गया है। वेदानुसंधान करने वाले विद्वानों को यह ग्रन्थ अवश्य पढ़ना चाहिये।

दूसरा ग्रन्थ है—'स्वर्ग सन्देश'। इस ग्रन्थ में विविध स्वर्ग प्रदेशों का और उनमें रहने वाले चार प्रकार के देवों का वर्णन है। इन चार प्रकार के देवों को जाने बिना वेदार्थ करने वाले पद पर ठोकर खाते हैं। वेदार्थ ज्ञान के लिए यह ग्रन्थ भी बड़ा सहायक है।

तीसरा ग्रन्थ 'महर्षिकुलवैभव' है। इस ग्रन्थ में ऋषि-रहस्य का निरूपण हुआ हैं। चार प्रकार के ऋषि होते हैं—एक सृष्टि-प्रवर्तक प्राणस्वरूप ऋषि, दूसरे मन्त्रद्रष्टा वेद-प्रवर्तक ऋषि, तीसरे गोत्रप्रवर्तक ऋषि और चौथे आकाश में चमकने वाले तारारूप ऋषि। इन सबके नाम भी प्रायः समान ही हैं। इन चारों प्रकार के ऋषियों का वर्णन और इनकी समान नामता का कारण-निर्देश इस ग्रन्थ में हुआ है।

चौथा-ग्रन्थ 'इन्द्रविजय' है। इस ग्रन्थ में पाँच परिच्छेद हैं। पहला है। 'भारत परिचय।' इस परिच्छेद में तीन प्रकार का त्रैलोक्य, भारतवर्ष की प्राचीन सीमा, त्रिपुरासुर और त्र्यम्बक द्वारा इसके विध्वंस का वैज्ञानिक रहस्य, ईरान आदि का भारतवर्ष से पृथक् होने का कारण तथा 'प्राचीन काल में भारतीयों की कोई लिपि नहीं थी और वे लिखना नहीं जानते थे'—इस सिद्धान्त का प्रमाण सहित खण्डन, एवं श्रुति, स्मृति आदि संज्ञाओं का रहस्य, प्राचीन काल की भारतीय लिपि का नाम, इण्डोयूरोपियन भाषा कौन थी—इत्यादि अनेक ज्ञातव्य विषयों का निरूपण है।

'इन्द्रविजय' का दूसरा परिच्छेद है—'आर्यदासीयम्।' इस परिच्छेद में आर्यों का पणियों, असुरों दैत्यों और दस्युओं के साथ जो प्राचीन काल में युद्ध हुआ था, उसका और उसके कारणों का विस्तार से वर्णन है।

तीसरा परिच्छेद है—'विज्ञान भवन'। अत्यन्त प्राचीन काल में सिन्धु और सरस्वती के संगम पर आर्यों ने एक 'विज्ञान भवन' बनाया था, इसे सूर्य-सदन भी कहते थे। यहाँ नित्य सूर्य की परीक्षा होती थी, इसके फलस्वरूप आर्यों को सूर्य सम्बन्धी अनेक तथ्य विदित थे-जिनके कारण आर्यों का उत्कर्ष उन दिनों खूब बढ़ा चढ़ा था। इसी विज्ञान भवन का इस परिच्छेद में विस्तार से वर्णन है।

चौथा परिच्छेद है—'दस्युनिग्रह।' इस परिच्छेद में भारत राष्ट्र पर वैदेशिकों के आक्रमण, दस्युओं का निग्रह करने के लिए इन्द्र के प्रत्याक्रमण और दस्युओं के पराजय का वर्णन है।

पाँचवाँ परिच्छेद है—'इन्द्र-विजयाभिनन्दन'। इस परिच्छेद में इन्द्र-विजय के उपलक्ष्य में हुए महोत्सव का वर्णन है। अनेक सूक्तों के द्वारा उस समय इन्द्र का अभिनन्दन किया गया था। उपसंहार, में 'सीरिया' देश सम्बन्धी अनेक विषयों की चर्चा भी की गई है।

ब्रह्म-विज्ञान के दिव्यभूति विभाग का पाँचवां अन्तिम ग्रन्थ है—दशवाद-रहस्य। जैसे आजकल चार्वाक, जैन, बौद्ध-वैशेषिक, सांख्य और वेदान्त, ये छः मत आत्मा के सम्बन्ध में भारत में प्रचलित हैं, इसी प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल में भी इस भारत में सृष्टि विषयों को लेकर दस मत प्रचलित थे—जिनकी चर्चा ऋग्वेद

के नासदीय सूक्त में की गई है । इन दस मतों का खण्डन करके ब्रह्मा ने सबके समन्वय से सिद्धान्तरूप ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा की और उसका प्रचार किया—यह बात 'दशवादरहस्य' में बताई गई है ।

ब्रह्म-विज्ञान के 'उक्थवैराजिक' विभाग को श्री पण्डित जी ने दस विषयों में विभक्त किया है । अभी मैंने आपके सामने नासदीय सूक्त की चर्चा की है । और यह कहा है कि उसमें सृष्टि के सम्बन्ध में दस वादों की चर्चा हुई है । वे दस वाद हैं—सदसद्वाद, रजोवाद, व्योमवाद, अपरवाद, आवरणवाद, अम्भोवाद, अमृत-मृत्युवाद, अहोरात्रवाद, दैववाद और संशयतदुच्छेदवाद । ये ही दस वाद उक्थ-वैराजिक के दस विषय हैं । ये दसों वाद मन्त्रों में, ब्राह्मणों में और उपनिषदों में यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं । इन दस वादों या विषयों को श्री पण्डित मधुसूदन जी ने इन्हीं नामों से दस ग्रन्थों में लिखा है । इन सबका परिचय संक्षेप में इस प्रकार है—

१—'सदसद्वाद' में सत् से, असत् और सदसत् से सृष्टि का निरूपण बताया गया है । उपनिषदों में तीनों प्रकार के वाक्य मिलते हैं ।

२—'रजोवाद' में रजस्तत्त्व से सृष्टि बताई गई है । वेद में रजस् और परोरजस् ये दो तत्त्व बताये गये हैं । इनमें रजस्तत्त्व ही सृष्टि का उपादान कारण है । परोरजस्तत्त्व सृष्टि का उपादान न होते हुए भी सृष्टि में अनुस्यूत है । भूर्भुवः स्वः आदि सातों लोक इस रजस्तत्त्व के विकार हैं । ये सातों लोक ही समस्त विश्व हैं ।

३—'व्योमवाद' में बताया गया है कि व्योंम शब्द से व्यवहृत परमाकाश ही इस विश्व का प्रभव, प्रतिष्ठा और परायण है ।

४—'अपरवाद' में 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा' इत्यादि श्वेताश्वतर उपनिषदुक्त सिद्धान्त का विवेचन हुआ है ।

५—'आवरणवाद में 'वयुन' तत्त्व से सृष्टि बताई है । वयस् और वयोनाध इन दो तत्त्वों के सम्मिश्रण से 'वयुन' तत्त्व की उत्पत्ति होती है । भिन्न-भिन्न प्रकृति के वयुन-तत्त्वों की समष्टि ही यह जगत् है । 'वयस्' प्राणतत्त्व है, 'वयोनाध' छन्दस्तत्त्व है और 'वयुन' वस्तु है । यह वैदिक परिभाषा है—जिसका निरूपण शतपथ ब्राह्मण के आठवें काण्ड में हुआ है । "वयोनाध" को छन्द इसलिए कहते

हैं। कि वह आच्छादक या आवरणक है, परिच्छेद करने वाला है। वयो नह्यति, बन्धाति, आवृणोति इति वयोनाह, यही 'वयोनाध' हो गया है।

६—'अम्भोवाद' में अम्भस् (आप) को ही जगत् का उपादान कहा गया है। 'आप एवेदमग्र आसुः' इस श्रुति के अनुसार सृष्टि से पूर्व अम्भस् ही था। यह अम्भस् तत्त्व विरलावयव वाष्प या गैस रूप है। इसका ही स्थूलरूप तरल जल है। इस जल की घनावस्था ही पृथिव्यादि जगत् है।

७—'अमृतमृत्युवाद' में यह बताया गया है कि 'अमृत' और 'मृत्यु' की संसृष्टि ही सृष्टि है। उपनिषदों में अमृत को रस और 'मृत्यु' को बल कहा गया है। इन दोनों का अविनाभाव संबन्ध है। रस के बिना बल नहीं रहता और बल के बिना रस नहीं रहता। रस एक है, बल अनन्त है। अनन्त बल वाला रस ही ईश्वर है। आनन्द, चेतना और सत्ता ईश्वर के रूप हैं। सत्ता भी मन-प्राण-वाक्, रूप होने से त्रिरूपा है। मन से ज्ञान होता है, प्राण से क्रिया होती है और वाक् से अर्थ उत्पन्न होते हैं। ज्ञान में अर्थ प्रविष्ट होता है और अर्थ में क्रिया। इस प्रकार अकर्म में कर्म और कर्म में अकर्म प्रविष्ट है।

इस अमृत-मृत्युवाद की व्याख्या दूसरे प्रकार से भी की गई है। अमृत और मृत्यु से दो तत्त्व हैं—जिनमें अमृत-स्थितिशील, निरवयव, अखण्ड, एवं नित्य है, दिग् देश और काल से अपरिच्छिन्न होने के कारण अनन्त होता हुआ भी संख्या में एक ही है और सब मृत्युओं में अनुस्यूत है। किन्तु मृत्यु अमृत के एकदम विपरीत है। प्रतिक्षण बदलने वाला है। अमृत के लिए 'विद्या' शब्द का और मृत्यु के लिए कर्म शब्द का भी प्रयोग होता है। ये विद्या और कर्म एक दूसरे से अविनाभूत होने के कारण एक रूप है। इसी एक रूप अमृत-मृत्युमय तत्त्व से सृष्टि होती है।

८—'अहोरात्रवाद' में यह कहा गया है कि 'अहः'—दिन और 'रात्रि' इस दृश्यमान विश्व के मूल कारण हैं। 'अहः' शब्द से तात्पर्य है, ज्योतिः—प्रकाश, और 'रात्रि' शब्द से तात्पर्य है तमस्—अन्धकार। ज्योति और तम दोनों दस-दस प्रकार के हैं। अहोरात्रवाद में प्रसङ्गगत अध्यात्म और अधिदैवत सम्बन्धी यज्ञ, मन्वन्तर और कल्प का भी निरूपण किया गया है। पृथ्वी और सूर्य में कौन चलता है और कौन स्थिर है—इसका भी निर्णय वैदिक प्रमाणों के आधार पर किया गया है।

९—'दैववाद'— विशेष रूप से अथर्वसंहिता में ही उपलब्ध होता है। इसमें दैवयोग को ही सृष्टि का कारण माना गया है। दैवयोग से तात्पर्य है देव सम्बन्ध, अर्थात् ईश्वर, अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं के सम्बन्ध से ही जगत् उत्पन्न होता है।

१०—'संशयतदुच्छेदवाद' में सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राचीन वैज्ञानिकों के संदेहों का विस्तार से उल्लेख और उनका समाधान किया गया है।

'ब्रह्म-विज्ञान' का तीसरा विभाग है—'आर्यहृदयसर्वस्व'। मन्त्र, ब्राह्मण, उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र आदि ये सब साहित्य आर्य जाति का हृदय और सर्वस्व माना जाता है। इनका विशद विवेचन और तात्पर्य निर्णय इस विभाग का मुख्य विषय है। इसको भी श्री पण्डित जी ने पाँच ग्रन्थों में प्रस्तुत किया है। इसका पहला ग्रन्थ है—'ब्रह्महृदय'।

इस ग्रन्थ में संहिता के मन्त्रों का ऋषि-क्रम से संकलन किया गया है। ऋषि-क्रम से संपादित इस संहिता में एक ऋषि के सारे मन्त्र एक जगह आ गये हैं। ऐसा करने से ऋषि के अभिप्रायों को समझने में बड़ी सुविधा हुई है।

२—'ब्राह्मण-हृदय' दूसरा ग्रन्थ है। इसमें 'कौषीतक' आदि लुप्त ब्राह्मण ग्रन्थों का वैज्ञानिक भाग इकट्ठा करके सङ्कलित किया गया है।

३—'उपनिषद्-हृदय' तीसरा ग्रन्थ है। इसमें तीन काण्ड हैं। प्रथम काण्ड में मूल उपनिषदों के विज्ञान सम्बन्धी अंशों का संग्रह है। दूसरे में अवान्तर प्रकरणों में निर्दिष्ट विषयों का पृथक्-पृथक् शीर्षक देकर स्पष्टीकरण है और तीसरे में कुछ उपनिषदों का गद्य पद्यमय वैज्ञानिक भाष्य है।

४—'गीता-हृदय' चौथा ग्रन्थ है। इसमें चार काण्ड हैं। पहले काण्ड के प्रथम प्रकरण में 'भगवद्गीता' और 'उपनिषत्' इन दो शब्दों का निर्वचन और तात्पर्यार्थ बताया गया है। दूसरे प्रकरण में भाष्य-विवक्षा, तात्पर्य-निरुक्ति, ब्रह्मकर्माभिनय, साम्यवाद-निरुक्ति, लक्ष्यगीता और गीतासप्तति, ये छः विषय निरूपित हुए हैं। तीसरे प्रकरण में आत्म-निर्वचन, योगत्रयमूल-निर्वचन, बुद्धि योग चतुष्टयी इन तीन विषयों का निरूपण है।

दूसरे काण्ड में गीता में प्रतिपादित १६० उपदेशों का क्रमश: शीर्षक देकर परिष्कार के साथ मूल श्लोकों का संग्रह है ।

तीसरे काण्ड में दो प्रकरण हैं । प्रथम प्रकरण में मानुषावतार वसुदेवात्मज श्री कृष्ण के स्वार्जित पाँच भावों का वर्णन है और उनके नाम का निर्वचन, उनकी वंशानुक्रमणी, उनमें चतुर्विध महापुरुष लक्षणों का समन्वय, उनका माहात्म्य और प्रभाव भी बताए गये हैं । दूसरे प्रकरण में दिव्य कृष्ण और मानुषावतार कृष्ण में नाम, रूप तथा द्वादशलक्षण का सम्बन्ध, लोकचतुष्टय (भूर्भुव: स्वर्मह:) की संचारिता, वेद, गौ और ब्राह्मणों के महत्त्व की उद्‌भावकता, वेदोपस्तुतचारित्र्य और षोडश-कलापूर्णावतारत्व की समानता दिखाई गई है ।

चौथे काण्ड में गीता प्रतिपादित १६० उपदेशों का विशद् विवरण दिया गया है ।

५—'ब्रह्मसूत्र-हृदय' यह आर्यहृदय-सर्वस्व विभाग का पाँचवाँ ग्रन्थ है । इसमें ब्रह्म सूत्रों पर उपलब्ध श्री शङ्कर तथा रामानुजाचार्य के जो भाष्य हैं उन सब का सार दिया गया है । और कहीं-कहीं उन पर अपना अभिप्राय भी प्रकट किया गया है ।

'ब्रह्म-विज्ञान' का चौथा विभाग है 'निगमबोध ।' इसमें भी श्री पण्डित जी के पाँच ग्रन्थ हैं—निगदवती, आख्यानवती, गाथावती, निरुक्तमती और समीक्षा-वती । इन पाँचों में ब्राह्मण, उपनिषद् और आरण्यकों में आये हुए निगद, आख्यान, गाथा आदि से सम्बन्ध रखने वाले श्लोकों का संग्रह है ।

ब्रह्म-विज्ञान का पाँचवाँ विभाग है 'विज्ञान-प्रवेशिका । इसमे छोटे-छोटे सात ग्रन्थ हैं—विज्ञान-विद्युत्, ब्रह्मद्रवी, ब्रह्मधारा,विज्ञान-परिष्कार, दर्शन-परिष्कार, वेदार्थ भ्रम-निवारण और वेद-समीक्षा । इनमें 'विज्ञान-परिष्कार और 'वेदार्थ-भ्रम-निवारण' ये दो ग्रन्थ हिन्दी में हैं । इन सातों में पहली चार पुस्तकों में वैदिक विज्ञान के दुरूह विषयों को अति सरल भाषा में समझाने का प्रयास किया गया है । 'दर्शन-परिष्कार' में आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों का संक्षिप्त सार संगृहीत हुआ है । 'वेदार्थ-भ्रम-निवारण' में वेद के पौरुषेयत्व और अपौरुषेयत्व की चर्चा है तथा पौरुषेयत्व और अपौरुषेयत्व का क्या तात्पर्य है—यह भी बताया गया है । एवं

वेद समीक्षा में ऋग्, यजु:, साम और अथर्व, इन चारों वेदों का वैज्ञानिक स्वरूप कई प्रकार से समझाया गया है ।

ब्रह्म-विज्ञान का छठा विभाग है—'विज्ञान-मधुसूदन ।' इसमें श्री पण्डित जी के पाँच ग्रन्थ हैं—ब्रह्मविनय, ब्रह्मसमन्वय, ब्रह्म प्राजापत्य, ब्रह्मोपपत्ति और ब्रह्मचतुष्पदी । इनमें ब्रह्मसिद्धान्त, निर्विशेष परात्पर, अव्यय, अक्षर, क्षर, परमेश्वर, ईश्वर, जीवात्मा और आत्मगति इन दस विषयों का निरूपण है ।

ब्रह्म-विज्ञान का सातवाँ विभाग है—'पाश्चात्यविज्ञान-पञ्चिका ।' इस विभाग 'साइंस प्रदीप' इस नाम से भी कहा गया हैं । इसमें पाँच पुस्तकें हैं—भौतिक साइन्स-प्रदीपिका, यौगिक साइन्स-प्रदीपिका, शारीरिक साइन्स-प्रदीपिका, दृग्विज्ञान प्रदीपिका और वस्तुसमीक्षा । इन ग्रन्थों में प्रकाश (लाइट), गर्मी (हीट), आवाज (साउण्ड) और ईथर आदि पदार्थों का विवेचन है । आधुनिक वैज्ञानिकों के द्वारा स्वीकृत आक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन आदि तत्त्वों का विस्तार से निरूपण है । वैदिक विज्ञान के अनुसार उनकी वैदिक संज्ञाएँ भी बताई गई हैं । यह भी सिद्ध किया गया है कि वैदिक विज्ञान के अनुसार 'आक्सीजन' आदि पदार्थ मूलतत्त्व नहीं हैं, अपितु ये भी संयोगज हैं । श्री पण्डित मधुसूदन जी ने यह सिद्ध करने की चेष्टा बिलकुल नहीं की है कि वैदिक युग में भी आज कल की तरह रेलें दौड़तीं थीं, टेलीग्राम दिये जाते थे, टेलीविजन था, मोटर-कारें थीं, घर-घर में बिजली का प्रकाश था, हजारों मील दूर की आवाज लोग घर बैठे सुन लेते थे, एक दूसरे से बहुत दूर भी स्थित दो व्यक्ति आपस में बात चीत कर लेते थे । उनका कहना तो इतना ही है कि वैदिक युग के महर्षि आज कल के वैज्ञानिक तत्त्वों से अपरिचित नहीं थे, प्रत्युत बहुत सी बातों में इस काल के वैज्ञानिकों से वे बहुत आगे बढ़े हुए थे । जहाँ तक पहुँचने में आजकल के वैज्ञानिकों को शताब्दियाँ लग सकती हैं। यदि आधुनिक वैज्ञानिक श्री पण्डित जी के ग्रन्थों को पढ़ें और अनुसन्धान करें तो भारत पुनरपि अपना पूर्व गौरव प्राप्त कर सकता है । इस कार्य में भारत सरकार का भी सहयोग अपेक्षित हैं ।

२. यज्ञविज्ञान

श्री पण्डित जी के ग्रन्थों का दूसरा वर्ग है—'यज्ञविज्ञान।' यज्ञ विज्ञान चार भागों में विभक्त किया गया है—निवित्कलाप, यज्ञमधुसूदन, यज्ञविनय-पद्धति और प्रयोग-पारिजात।

निवित्कलाप में यज्ञसम्बन्धी परिभाषाएँ दी हैं। इस विभाग में पाँच ग्रन्थ हैं—वैश्वरूप्यनिवित्, देवतानिवित्, ऋषिनिवित्, आत्मनिवित् और यज्ञ-निवित्।

'यज्ञमधुसूदन' सन्दर्भ में आठ ग्रन्थ हैं—यज्ञविहाराध्याय, स्मार्तकुण्ड-समीक्षाध्याय, मन्त्रप्रचरणाध्याय, यज्ञोपकरणाध्याय यज्ञविटपाध्याय, कर्मानुक्रम-णिकाध्याय, आत्माध्याय और देवताध्याय। इन आठों ग्रन्थों में यज्ञसम्बन्धी समस्त विषयों का समावेश हो गया है। यज्ञ-सम्बन्धी प्रत्येक जिज्ञासा इन ग्रन्थों को पढ़ने पर शान्त हो जाती है। बहुत से विषयों को अनेक चित्रों द्वारा स्पष्ट किया गया है। स्वर्ग क्या चीज है ? यज्ञ से स्वर्ग कैसे प्राप्त होता है ? इत्यादि विषयों को वैज्ञानिक ढंग से श्री पंड़ित जी ने स्पष्ट किया है।

'यज्ञविनयपद्धति' विभाग में 'इष्टिपशुसोमाध्याय' और 'अग्नि चयना-ध्याय' ये दो ग्रन्थ हैं। इनमें चरक-सौत्रामणिपर्यन्त यज्ञों की सरल संक्षिप्त पद्धति बताई गई है, तथा कर्मोपयोगी बहुत से मन्त्रों की व्याख्या भी की गई है। चितिनिर्माण प्रकार जानने के लिए चितियों के चित्र भी दिये गए हैं।

'प्रयोगपारिजात' विभाग में आधानप्रक्रिया, प्राक्सौमिकप्रक्रिया एकाहप्र-क्रिया और सत्रप्रक्रिया—ये पुस्तकें हैं। इनमें अग्न्याधान से लेकर चयन पर्यन्त समस्त यज्ञों की प्राचीन पद्धतियों का संग्रह हुआ है।

३. इतिहास

इतिहास-विभाग का दूसरा नाम पुराणसमीक्षा-विभाग है। इतिहास और पुराण में थोड़ा सा अन्तर है—जिसे पंडित जी ने अपने ग्रन्थों में स्पष्ट किया है। नरचरित ही जिसमें मुख्य हो, उसे इतिहास कहते हैं। राजवंशवर्णन, तात्कालिक सामाजिक स्थिति, युद्ध-प्रसङ्ग, सन्धि आदि सब इतिहास के अन्तर्गत आते हैं। सृष्टि कब हुई ? कैसे हुई ? सृष्टि के मूल तत्त्व, उनका क्रमिक विकास, भूगोल, खगोल,

मन्वन्तर, प्रलय आदि सृष्टि सम्बन्धी विषयों का वर्णन मुख्य रूप से जिसमें हो, उसे पुराण कहते हैं। इस संदर्भ में मुख्यत: तीन विभाग हैं—विश्वविकास, देवयुगाभास और प्रसंग चर्चितक।

१—विश्वविकास विभाग

इस विभाग में ६ ग्रन्थ हैं—मन्वन्तर-निर्धार,विश्वसृष्टि-संदर्भ, आर्यभुवन-कोश (भूगोल), ज्योतिश्चक्रसंस्थान (खगोल) वैज्ञानिकोपाख्यान और वंशमातृका। इन ग्रन्थों के नाम से ही इनके विषय पर प्रकाश पड़ जाता है। इन ग्रन्थों में प्रसङ्गागत ताराहरणादिपौराणिक उपाख्यानों का रहस्य भी खोला गया है।

२—देवयुगाभास विभाग

इस विभाग में भी छ: ग्रन्थ हैं—देवासुरख्याति, राघवख्याति, यादवख्याति, हैहयख्याति, पौरवख्याति, और अक्रमख्याति। 'देवासुरख्याति' में देव और असुरों के पारस्परिक बारह युद्धों का वर्णन है। राघवख्याति में सूर्य वंश के राजाओं का वर्णन है। 'यादवख्याति' में यदुवंशीय कृष्णशाखा के राजाओं का उल्लेख है। 'हैहयख्याति' में यदुवंशी हैहय शाखा के राजाओं का इतिहास है। पौरवख्याति में पुरुवंशी राजाओं का चरित्र है। अक्रमख्याति में इतिहास संबन्धी कुछ फुटकर विषयों का संग्रह है।

३—प्रसङ्गचर्चितक

इस विभाग में भी छ: ग्रन्थ हैं—कथानकसमुच्चय, दैवतमीमांसा, वेद-पुराणादिशास्त्रावतार, कल्पशुद्धिप्रसङ्ग, परीक्षा-प्रसङ्ग और पुराणपरिशिष्ट।

'कथानक समुच्चय' में पुराणों में वर्णित शुद्ध ऐतिहासिक उपाख्यानों का संग्रह है। दैवत-मीमांसा में पुराण चर्चित देवता, शरीर-धारी-चेतन हैं या अचेतन ? इत्यादि बातों का विचार किया गया है। पूर्वमीमांसोक्त देवता सम्बन्धी विचारों की भी पर्यालोचना इस ग्रन्थ में की गई है।

'वेद-पुराणशास्त्रावतार' में वेद, पुराण आदि के प्रादुर्भाव का इतिहास है। कल्पशुद्धि-प्रसंग में धर्म परिष्कार है। 'परीक्षाप्रसंग में शिल्पकला प्रचार का उल्लेख है। 'पुराणपरिशिष्ट' में पुराणोल्लिखित फुटकर विषयों का संग्रह है।

४. वेदाङ्गसमीक्षा

इस संदर्भ में चार विभाग हैं—वाक्पदिका, ज्योतिश्चक्रधर, आत्मसंस्कारकल्प, और परिशिष्टानुग्रह ।

१. वाक्पदिका

इसमें पाँच ग्रन्थ हैं—वर्णसमीक्षा, छन्दः समीक्षा, वैदिककोश, वैदिकशब्दतालिका और व्याकरणविनोद ।

'वर्ण-समीक्षा' में वर्णमाला की उत्पत्ति का वैज्ञानिक रहस्य, स्वरभक्ति, विवृति, यम, नियम आदि का विस्तार से वर्णन हुआ है । देवनागरी लिपि के प्राकृतिकत्व का भी इसमें सयुक्तिक समर्थन हुआ है । 'छन्दः समीक्षा' में 'छन्दस्' पदार्थ का, छन्दों का छन्दःसम्बन्धी गणित का और छन्दों के देवसाहचर्य का वैज्ञानिक विवेचन हुआ है । छन्द सात प्रकार के होते हैं—जिनमें चार-मा, प्रमा, प्रतिमा और अस्त्रीवय, ये प्राणमय छन्द हैं । इनकी वेदमंत्रों में भी चर्चा है । वर्ण, मात्रा और गण के भेद से तीन वाङ्मय छन्द हैं । 'छन्दः समीक्षा' का 'छन्दोनिरुक्ति' नामक प्रकरण, निर्णय सागर प्रेस से पिङ्गलकसूत्र की भूमिका के रूप में प्रकाशित हो चुका है । 'वैदिककोष'—निघण्टु में आए हुए शब्दों का प्रकरणरूप से विभक्त पद्यमय कोश है । इसमें एक विशेषता और भी है कि 'बृहद्देवता' का दैवतप्रकरण भी इसमें सम्मिलित कर लिया गया है । 'वैदिकशब्दतालिका' में अकारादिक्रम से वैदिक शब्दों की सूची है। इस ग्रन्थ का दूसंरा नाम वेदरक्षासारिणी' है। 'व्याकरणविनोद' में व्याकरण शास्त्र पढ़ाने की नवीन शैली का निरूपण है ।

२. ज्योतिश्चक्रधर

इस विभाग में ताराविज्ञान, गोलविज्ञान, होराविज्ञान, कादम्बिनी और लक्षणविज्ञान—ये पाँच ग्रन्थ हैं । ताराविज्ञानादि तीन ग्रन्थों के विषय तो उनके नाम से ही विदित हैं । 'कादम्बिनी' में व्याख्या सहित वृष्टिविद्या का निरूपण है और 'लक्षण विज्ञान' में सामुद्रिक का निरूपण है । ये ग्रन्थ प्रायः क्रोड पत्रों के रूप में हैं । 'कादम्बिनी' ग्रन्थ छप चुका है ।

३. आत्मसंस्कार कल्प

इस विभाग में भी पाँच ग्रन्थ हैं—शुद्धिसिद्धान्तपञ्चिका, धर्मविधानपञ्चिका, व्रतपञ्चिका, व्यवहारनयधारा और श्राद्धसमीक्षा ।

'शुद्धिसिद्धान्तपञ्चिका' में 'सन्ध्या-रहस्य' आदि प्रकरण हैं। इनमें 'अशौच-पञ्चिका' नाम के प्रकरण में अशौच और सापिण्ड्य का वैज्ञानिक निरूपण हुआ है । 'धर्म विधान-पञ्चिका' में ब्राह्मदैवादि आत्मसंस्कारक विधियों का, पञ्च महायज्ञों का और समयाचारिक धर्मों का वर्णन हुआ है । 'व्रतपञ्चिका' में जाति, वर्ण, आत्मा, दीक्षा आदि व्रतों का निरूपण है । 'व्यवहारनयधारा में तर्क, न्याय, प्रशासन आदि का विवरण है । 'श्राद्धसमीक्षा' में पितरों का वैज्ञानिक-स्वरूप, श्राद्धविज्ञान बताया गया है । श्राद्ध-पद्धति का भी इसमें निरूपण है ।

४. परिशिष्टानुग्रह

इस विभाग में ९ ग्रन्थ हैं—शास्त्रपरिचय, वेदार्थभ्रमनिवारण, वेदधर्म-व्याख्यानपञ्चिका, प्रत्यन्तप्रस्थान-मीमांसा, गोत्रप्रवर पताका, जातिपञ्चिका, संप्रदा-यपञ्चिका, इन्द्रध्वजोत्थापनपद्धति, और धर्मतत्त्वसमीक्षा । इन ग्रन्थों के नाम से ही प्राय: इनके विषयों का ज्ञान हो जाता है । प्रत्यन्तप्रस्थानमीमांसा में समुद्रयात्रा द्वारा विदेशों की यात्रा करने में दोषादोष का निर्णय किया गया है ।

५. आगम रहस्य

आगम रहस्य के भी छ: महाविभाग हैं—सिद्धान्तागमरहस्य, संहितागम-रहस्य, डामरामरहस्य, यामलागमरहस्य, कल्पागमरहस्य और तन्त्रागमरहस्य । इनमें भी प्रत्येक विभाग के छोटे बड़े, अनेक ग्रन्थ हैं—जो सब मिलाकर संख्या में १२० होते हैं । ये ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं ।

इस प्रकार पण्डित जी के कतिपय मुख्य ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय यहाँ सम्पन्न हुआ ।

वेदों का स्वरूप

वेद आर्य जाति के सर्वस्व हैं। भारतीय संस्कृति और भारतीय ज्ञान-विज्ञान सब कुछ वेद मूलक हैं, अत: वेदों के स्वरूप पर विचार आवश्यक हो जाता है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि वेद का स्वरूप तो बहुत पहले निर्णीत हो चुका है। आपस्तम्बश्रौतसूत्र में लिखा है—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्—अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ ही वेद हैं। मीमांसकों ने माना है—'अपौरुषेयं वाक्यं वेदः—अर्थात् पुरुष के बिना स्वयं प्रादुर्भूत वाक्य-राशि ही वेद है। ऐसी स्थिति में वेद-स्वरूप के विचार की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है ?

इसका समाधान यह है कि मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के अध्ययन से ही यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मन्त्र ब्राह्मणात्मक ग्रन्थ-राशि से अतिरिक्त भी कोई वेद पदार्थ है—जिसका निरूपण ये मन्त्रब्राह्मणात्मक ग्रन्थ करते हैं। आपस्तम्ब आदि ऋषियों के लक्षण तात्कालिक परिस्थितियों के अनुसार हैं, अत: वे एकदेशी हैं। उन लक्षणों में समग्र वेदपदार्थ समाविष्ट नहीं होता। अत: आज इसकी बड़ी आवश्यकता है कि मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद के आधार पर ही वेद के स्वरूप पर विचार किया जाय।

आर्य संस्कृति के अनुसार वेदाध्ययन के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना आवश्यक माना गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक आख्यायिका है कि भारद्वाज ऋषि ने अपनी बाल्य, यौवन और वार्धक्य इन तीनों अवस्थाओं को ब्रह्मचर्य पालन में ही बिता दिया। एक दिन उस जराजीर्ण भरद्वाज के पास आकर इन्द्र बोला—हे भरद्वाज ! यदि मैं तुम्हें चौथी आयु और दे दूँ तो तुम उससे क्या करोगे ? भरद्वाज ने कहा कि मैं उससे ब्रह्मचर्य का ही पालन करूंगा-अर्थात् वेद पढ़ूँगा। इन्द्र ने भरद्वाज को तीन पर्वत दिखलाए, जिनका ओरछोर कुछ नहीं था। इन्द्र ने कहा—ये

वेद ही हैं। वेद अनन्त हैं। इन्द्र उन पर्वतों से एक एक मुट्ठी ली और कहा कि हे भरद्वाज ! तुमने अपनी तीन अवस्थाओं में इतना ही (तीन मुट्ठी ही) वेद जाना, इससे अधिक नहीं। अब विचारिये कि ये अनन्त वेद कौन हो सकता है ? मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदराशि तो गिनी हुई है। महाभाष्यकार ने वेद की कुल ११३१ शाखाएँ बताई हैं।[१] ब्रह्मा वेदों से ही सृष्टि करता है—यह बात श्रुति स्मृति आदि में सर्वत्र बताई गई है। सृष्टि का उपादान कारणरूप ये वेद कौन हो सकते हैं ? तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है—'वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः[२] अर्थात् सूर्य तीन वेदों से अशून्य होकर चलता है। ये तीनों वेद क्या हो सकते हैं—जिनके साथ सूर्य चलता है। ग्रन्थात्मक वेदों के साथ तो सूर्य नहीं चलता ? इसलिए यह तो मानना ही पड़ेगा कि ग्रन्थात्मक वेद से विलक्षण भी कोई वेद पदार्थ है, जो अतिगम्भीर है। उसका ही विवेचन यहाँ करना है।

सर्वप्रथम वेद शब्द के अर्थ पर ही विचार किया जाय तो विज्ञान के भी बहुत से अंश प्रस्तुत हो जायेंगे। 'वेद' यह शब्द 'विद्ज्ञाने' धातु से घञ् प्रत्यय होकर बना है। घञ् प्रत्यय भाव अर्थ में और कर्तृ भिन्न कारकों के अर्थ में होता है, इसलिए, ज्ञान का विषय—ज्ञेयपदार्थ और ज्ञान के साधन ये तीनों ही 'वेद' शब्द के वाच्य अर्थ हो सकते हैं। भगवान् पाणिनि ने तो 'वेद' शब्द में चार धातुओं का समावेश किया है—१. विद् ज्ञाने, २. विद् सत्तायाम्, ३, विद्लृ लाभे और ४. विद् विचारणे। इनमें विचारना—यह अर्थ तो एक प्रकार से ज्ञान में ही अन्तर्गत हो जाता है, किन्तु सत्ता और लाभ ये दो अर्थ अतिरिक्त रहते हैं। इन अर्थों में भी भाव, कर्म और करणप्रत्ययार्थ 'घञ्' जोड़ने से वेद शब्द का अर्थ बहुत गम्भीर हो जाता है। लाभ, आनन्द का उत्पादक अथवा आनन्द का ही एक रूप है। ऐसा सूक्ष्म विचार करने पर सत्ता, ज्ञान और आनन्द ये तीन जो ब्रह्म के लक्षण श्रुतियों में मिलेते हैं, वे तीनों वेद शब्दार्थ में आ जाते हैं। अथवा यों भी कह सकते हैं कि 'विद्' धातु के अर्थों में सत्ता से उत्पत्ति, ज्ञान से पालन या जीवन और लाभ से प्राप्ति या लय बताया गया। इस प्रकार वेद शब्दार्थ में भी ब्रह्म का लक्षण घट जाता है जिससे सब उत्पन्न

---

१. म. भाष्य पस्पशाह्निक पृ.७१

२. तै.ब्रा.३/१२/९/१

हों, जिसके आधार पर जीवित रहें और जिसमें सब लीन हों, यही ब्रह्म का लक्षण श्रुति में कहा गया है, इसलिए 'वेद' शब्द, ब्रह्म शब्द का पर्याय बन जाता है । अस्तु । अन्य अर्थों का विवेचन आगे होगा, अभी पहले ज्ञान अर्थ का ही विचार कीजिए । प्राचीन वाङ्मय में ब्रह्म, विद्या और वेद इन तीनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में मिलता है । तीन वेदों के लिए 'त्रयं ब्रह्म' 'त्रयी विद्या' और 'त्रयो वेदा:' ये तीनों प्रकार के प्रयोग यत्र तत्र प्राप्त होते हैं । यद्यपि सूक्ष्म विचार से इन शब्दों के अर्थ में व्यावहारिक दृष्टि से किञ्चित् भेद है । वेद शब्द का 'ज्ञान' अर्थ जो कहा गया है, वह तो तीनों शब्दों में समान ही है, किन्तु साधनों का भेद प्रतीत होता है । भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्तुधर्म, उनके कार्य-कारण भाव आदि का ज्ञान यदि प्रत्यक्ष प्रमाण से हुआ हो, तो उस ज्ञान को 'ब्रह्म' शब्द से कहा जायेगा । वही ज्ञान यदि पूर्व संचित संस्कारों की सहायता से हुआ हो, तो उसे 'विद्या' शब्द से प्रकट किया जायेगा । यदि वैसा ही ज्ञान शब्दप्रमाण से हो तो उसे 'वेद' शब्द से कहा जायेगा । इतना अवान्तर भेद होने पर भी ज्ञान मात्र पर दृष्टि रखकर तीनों शब्दों का समान रूप में प्रयोग भी बुहत प्रचलित है । पूर्वोक्त प्रकार से शब्द होने वाला ज्ञान और ज्ञान के साधन रूप शब्द ही व्यवहार में 'वेद' शब्द के द्वारा बोध्य होते हैं । वहाँ भी विशेष कर लौकिक और अलौकिक ज्ञान के साधन रूप शब्द ही आज वेद नाम से संसार में प्रसिद्ध हो गये हैं । इसलिए 'वेद' शब्द, ग्रन्थों का ही वाचक बन गया, किन्तु उन वेद-ग्रन्थों में 'वेद' शब्द का और उसके अवान्तर विभागों के बोधक 'ऋक्' 'यजु:' और 'साम' शब्दों का एवं सामान्यार्थबोधक 'वाक्' शब्द का भी व्यवहार प्रत्यक्ष ज्ञान के साधनों और साथ ही ज्ञान के विषय बनने वाले अर्थों में भी हुआ है ।

अब यहाँ यह विचार कीजिए कि किसी वस्तु का प्रत्यक्ष-ज्ञान हमें किस प्रकार होता है ? प्रत्यक्ष का लक्षण तो शास्त्रकारों ने यह किया है कि इन्द्रियों से ज्ञेय-अर्थों का सम्बन्ध होने पर जो ज्ञान प्रकट हो, वह प्रत्यक्ष कहलाता है । रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द, इन गुणों में देखा भी यही जाता है कि ये गुण जब हमारी रसना, त्वचा, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियों पर पहुँच कर इनसे सम्बद्ध होते हैं तभी इनका ज्ञान होता है, अत: दूर की वस्तु का खट्टा-मीठा रस, शीतल-उष्ण आदि स्पर्श हम नहीं जान सकते । यद्यपि दूर के पुष्प आदि के गन्ध का ज्ञान हमें होता है, किन्तु वह भी वायु द्वारा जब गन्ध वाले द्रव्य के अंश हमारी घ्राणेन्द्रिय पर लाये जाते हैं तभी

वैदिक विज्ञान इस सम्बन्ध में यही बताता है कि प्रत्येक वस्तु में उसकी प्राण-शक्ति व्याप्त है। प्राण के बिना कोई भी वस्तु ठहर नहीं सकती, वह निष्प्राण हो जाती है। बल और विधारण प्राण की ही शक्ति है। बिना प्राण के न किसी वस्तु में बल रहेगा और न उसका विधारण होगा, वह चूर-चूर होकर गिर जायेगी, अत: प्रत्येक पदार्थ में प्राण व्याप्त है। वह प्राण उस वस्तु के भीतर भी रहता है और बाहर भी फैलता है। पृथिवी-तत्त्व से बने प्रत्येक पदार्थ में आग्नेय प्राण रहता है, अर्थात् अग्नि ही पृथिवी का प्राण है। वह अग्नि वैदिक परिभाषा में दो प्रकार का माना जाता है—चित्य और चितेनिधेय। अग्नि-प्राण के चयन (चिनाई) से सब वस्तु बनी है, प्राण ही भूतों का उत्पादन करता है। इस प्रकार वस्तु के स्वरूप संघटन में लगे हुए प्राण वा अग्नि को वैदिक परिभाषा में 'चित्य' कहते हैं। चित्य अर्थात् चयन किया गया। यों 'चयन' से वस्तु का स्वरूप बना कर फिर प्राण उस पर बैठता है। जैसे मकड़ी अपनी ही लार से जाल बनाकर उस पर बैठती है; अथवा जैसे प्रकाश अर्थात् तेजोद्रव्य, दीपक का स्वरूप बनाकर उस पर बैठ कर दूर तक फैलता है, उसी प्रकार प्राण-शक्ति भौतिक वस्तुओं का स्वरूप बनाकर उन पर स्थित होती है। उस 'चित्य' अग्नि को मृत वा मर्त्य और 'चितेनिधेय' को अमृत कहा जाता है, अर्थात् चित्य में शक्ति मृत हो चुकी, अत: वह चित्य अपने स्थान से हट नहीं सकता, किन्तु चितेनिधेय अमृत होने के कारण चारों ओर फैलता रहता है।

इस प्रसंग में यह जान लेना आवश्यक है कि सृष्टि में चार प्रकार के पदार्थ होते हैं—स्व-ज्योति, पर-ज्योति, रूप-ज्योति और अज्योति। अपने आप प्रकाश रखने वाले सूर्य, विद्युत् और अग्नि आदि 'स्व-ज्योति' कहे जाते हैं। जो दूसरे के प्रकाश से चमक उठें वे 'पर-ज्योति' हैं। जैसे-चन्द्रमा, दर्पण, जल आदि। एवं जिनमें प्रकाश या चमक न हो उन्हें 'रूपज्योति' कहते हैं, जैसे पृथिवी तत्त्व के बने हुए पदार्थों में चमक नहीं, रूप ही उनका प्रकाश है; तथा जिन वायु आदि में रूप भी नहीं होता वे 'अज्योति' के विभाग में आते हैं। इन चार विभागों में 'स्व-ज्योति' और 'पर-ज्योति' के प्राणभूत प्रकाश का दूर तक फैलना प्रत्यक्ष है, अत: उसे सभी लोग मानते हैं, किन्तु वैदिक विज्ञान बताता है कि रूप-ज्योति अर्थात् पार्थिव आदि पदार्थों के प्राण भी इसी प्रकार चारों ओर फैलते हैं। वस्तु के परिमाण के अनुसार उनके फैलने की अवधि छोटी या बड़ी होती है, जैसे छोटे से टिमटिमाते दीपक का

निकल जायँ, फिर भी मन के योग के बिना मनुष्य उन्हें नहीं देखता ।' इसलिए सांख्य, वेदान्त आदि दर्शनों ने ज्ञान को अन्त:करण का ही गुण माना है । आत्मा तो निर्विकार केवल साक्षी है । अस्तु ! वह मन तो हृदय में ही बैठा रहता है, फिर बाहर वस्तु प्रदेश में ज्ञान होगा कैसे ? कई ग्रन्थकारों ने इसके समाधान के लिए मान लिया है कि मन भी चक्षु के साथ बाहर चला जाता है । किन्तु यह भी अत्यधिक उपहासास्पद कल्पना है । मन यदि बाहर चला जाय तो क्षण भर भी शरीर का धारण नहीं हो सकता, शरीर उसी क्षण में गिर जायेगा । कई ग्रन्थकार यह भी कह देते हैं कि चक्षु बाहर जाकर रूप को मन के पास पकड़ लाती है, किन्तु आँख में केवल देखने की शक्ति है, पकड़ लाने की कोई शक्ति नहीं । इसलिए यह कल्पना भी पूरी नहीं उतरती । दूसरी बात यह है कि एक आँख को दबा कर टेढ़ी करके देखने से वस्तु दो दिखाई देने लगती हैं—एक अपने स्थान में और दूसरी उस स्थान से कुछ हट कर । इसी प्रकार दूर की वस्तु छोटी क्यों दिखाई देती हैं ? इन सब बातों की उपपत्ति इन पूर्वोक्त विचारों से ठीक नहीं बैठती ।

वर्तमान साइन्स कहते हैं कि सूर्य वा अन्य विद्युत् दीपक आदि की किरणें दृश्य वस्तु का स्पर्श कर उसी के आकार की बन कर हमारी आँख पर आती हैं और वे ही हमें उस वस्तु का रूप वा आकार दिखा देती हैं । उन्हीं किरणों का पुञ्ज छाया-चित्र या 'फोटो' भी है । यहाँ साइंटिस्ट महोदय थोड़ी भूल करते हैं । प्रकाश की किरणें अवश्य आती हैं, किन्तु उनके साथ वस्तु के अंश का आना भी उन्हें मानना ही पड़ेगा । यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि किरणों में तो सात रूप हैं, फिर हमें कोई वस्तु काली और कोई पीली या श्वेत क्यों दिखाई देती है ? तो इसका उत्तर वैज्ञानिक लोग देते हैं कि वह वस्तु किरणों के रूपों को खा जाती हैं, फिर जिस रूप को वह उगलती है, वही हमारी आँख पर आकर हमें दिखाई देता है । फिर भी यह प्रश्न उठेगा कि कोई वस्तु काले रूप को और कोई पीले रूप को क्यों उगलती है ? तब अन्तत: वस्तु के स्वभाव वा वस्तु-शक्ति की ही शरण लेनी पड़ेगी । अर्थात् जिस वस्तु में जिस रूप के उगलने की शक्ति है, अथवा जिसे उगल देने का जिसका स्वभाव है, उसे ही वह उगलती है । अत: वस्तु का अंश भी उन किरणों के साथ जरूर है—यह मानना पड़ेगा ।

होता है एवं शब्द भी एक स्थान में उत्पन्न होता है, पर उसकी धारा जब हमारे कानों में आती है, तभी उसका भी ज्ञान होता है। इसी कारण दूर का शब्द अपनी उत्पत्ति के कुछ क्षणों के अनन्तर ही हमें सुनाई देता है और जिस समय हम सुनते हैं, उस समय वह अपने उत्पत्ति-स्थान में नहीं रहता। इससे धारा रूप से चलता हुआ, अथवा नये-नये शब्दों को उत्पन्न करता हुआ वह हमारे कान तक आ गया यह बात समझ में आ जाती है, किन्तु रूप की बात निराली है। बहुत दूर की वस्तु का भी रूप हम आँखों से देखते हैं और वह रूप हमारे देखने के समय वहाँ दूर स्थान पर ही बना रहता है। रूप वा आकार का देखना ही वस्तु का देखना कहलाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि बिना आँख से सम्बन्ध हुए हमने आँख द्वारा उस वस्तु को अथवा उसके रूप और आकार को देखा कैसे? हमारे कई दर्शाकार चक्षु-इन्द्रिय का वस्तु के समीप पहुँच जाना मानते हैं। उनका विचार है कि हमारी चक्षु-इन्द्रिय तेज से बनी हुई है, अत जैसे तैजस् पदार्थ-सूर्य, दीप आदि में से किरणें निकलती हैं और दूर तक फैलती हैं, इसी प्रकार आँख की भी किरणें हैं। वे जाकर वस्तु का स्पर्श करती हैं, तब हमें वस्तु का ज्ञान हो जाता है। किन्तु ज्ञान की स्थिति पर विचार करने वाले सूक्ष्म निरीक्षक विद्वान् इस सिद्धान्त से सन्तुष्ट नहीं होते, क्योंकि ज्ञान एक अवान्तर वस्तु है। वह शरीर के भीतर ही होता है, बाहर वस्तु प्रदेश में ज्ञान नहीं हो सकता। आत्मा को व्यापक कहने वाले दर्शन इसका इस प्रकार समाधान कर लेते हैं कि आत्मा सब जगह है, अतः शरीर से दूर बाह्य-प्रदेश में भी ज्ञान हो जाने से कोई बाधा नहीं होनी चाहिये, क्योंकि ज्ञान तो आत्मा का ही धर्म है, वह शरीर से बाहर वा भीतर कहीं भी हो सकता है।' किन्तु इसके विरुद्ध पक्ष वाले विद्वान् कहेंगे कि 'आत्मा भले ही व्यापक रहे, परन्तु उसका भोग-साधन तो शरीर है—यह तो सभी मानते हैं, अतः आत्मा के विशेष गुण-ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख आदि शरीर के भीतर ही पैदा हो सकते हैं। बाहर भी यदि इनका उत्पन्न होना मान लिया जाय, तो फिर शरीर की आवश्यकता ही क्या? दूसरी बात यह कि ज्ञान उत्पन्न होने में मन के भी सहयोग की आवश्यकता है, बिना मनोयोग के किसी इन्द्रिय के द्वारा हमें ज्ञान नहीं होता। यह देखा जाता है कि मन यदि दूसरी ओर लगा हो तो कितना भी उत्तम गान हो रहा हो, मनुष्य उसे सुनता ही नहीं; कितनी भी उत्तम गन्ध आ रही हो मनुष्य का पता ही नहीं लगता। हाथी, घोड़े भी सामने से

प्रकाश बहुत अल्प स्थान में फैलता है, बड़े लैम्प आदि का बहुत दूर तक और सूर्य का तो समस्त ब्रह्माण्ड में ही व्याप्त है। ऐसे ही छोटी वस्तु का प्राण थोड़ी दूर तक फैलता है और बड़ी वस्तु का बहुत दूर तक। इसीलिए छोटी वस्तु समीप से ही दिखाई देती है और बड़ी वस्तु पर्वत आदि बहुत दूर तक दिखायी पड़ती हैं। अब विचारक विद्वान् समझ गये होंगे कि विभिन्न वस्तुओं के 'चितेनिधेय' प्राण अपनी गति से उस वस्तु के रूप को साथ लेकर हमारी चक्षु तक आते हैं, इसी कारण हमें अपनी चक्षु से दूर रहने वाला पदार्थ वा उसका रूप दिखाई देता है। इस प्राण के फैलाव को ही वैदिक परिभाषा में 'वितान वेद' कहते हैं। विस्तार होने से यह 'वितान' है और ज्ञान का साधन होने से 'वेद'। जहाँ तक जिस वस्तु के प्राण का वितनन या वितान होता है वहाँ तक वह वस्तु दिखाई देती है। प्राण-शक्ति बिना आधार के नहीं रहती, अतः अपनी आधारभूत वाक् को भी साथ लाती है। प्राण के साथ वाक् का भी विस्तार होता है। अर्थात् इस ''वितान वेद में वाक् और प्राण दोनों मिले हुए हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि वाक् और प्राण के नाम से जो आध्यात्मिक अर्थात् शरीर के तत्त्व हमारे परिचित हैं, वे प्राण और यहाँ न समझे जायँ। अवश्य ही वे आध्यात्मिक वाक् तथा प्राण भी इनसे ही बने हुए हैं, किन्तु जिनका हम वितनन बता रहे हैं, ये बहुत सूक्ष्म तत्त्व हैं तथा ये सूक्ष्म वाक् और प्राण-मण्डल रूप में ही रहा करते हैं, इसीलिए चारों ओर इनका प्रसार है, तथा वस्तु चारों ओर से समानान्तर पर दिखाई पड़ती है। जितना उस वस्तु का आकार है वह 'ऋक्' कहा जाता है और जहाँ तक उसका प्रसार होगा, वह अन्तिम मण्डल उसका 'साम' है। साम का अर्थ है—समाप्ति वा अन्तिम भाग, और मध्य के जितने मण्डल हैं, उनमें व्याप्त अग्नितत्त्व ही 'यजुः', कहलाता है। एवं ऋक् और साम तो अवधि मात्र हैं और वस्तु का सार-तत्त्व तो यजुः में ही भरा रहता है, उसी से नये-नये पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं। अस्तु, वैदिक विज्ञान का यह सिद्धान्त है कि प्रत्येक वस्तु कुछ लेती है और कुछ देती रहती हैं—इसका विस्तृत निरूपण दूसरे प्रवचन में किया जायेगा। इस सिद्धान्त के अनुसार सूर्य आदि की किरणों को वस्तु ने जो खा लिया वे तो उसमें आत्मसात् हो गई, क्योंकि खाई हुई वस्तु तो अपने स्वरूप में प्रविष्ट हो जाती है। अब जो देगी वह अपना अंश कहलायेगा, उन्हें अब प्रकाश की किरण नहीं कह सकते, क्योंकि प्रकाश की किरणें वस्तु में प्रविष्ट होकर उसमें आत्मसात्

हो चुकी हैं और जो निकली हैं वे उस वस्तु के ही अंश हैं जिन्हें 'रूप-ज्योति' के भीतर माना गया है ।

इसी प्रकार कोई वस्तु दूर और कोई समीप जो दिखाई देती है, उसकी दूरी वा समीपता को भी हम पहचानते हैं । अब यहाँ यह जिज्ञासा होगी कि एक ही आँख के धरातल पर-एक ही बिन्दु पर आये हुए पदार्थ जब हमे दिखाई देते हैं, तब उनकी दूरी या समीपता जानने का आधार क्या है ? क्योंकि एक बिन्दु पर पड़े हुए प्रतिबिम्बों की दूरी अथवा समीपता कैसे समझी जाय । इसका उत्तर साइंटिस्ट यों देते हैं कि दूर वा नजदीक से आये हुए रूपों में कुछ तारतम्य होता है । उसी तारतम्य के आधार पर दूरी वा समीपता का अनुमान हो जाता है । वस्तुत: दूरी वा समीपता का प्रत्यक्ष नहीं, अनुमान होता है । किन्तु यह अनुमान हमें इतना अभ्यस्त हो गया है कि उसमें एक क्षण भी विलम्ब नहीं लगता, अत: उसे हम प्रत्यक्ष ही मान लेते हैं । जैसे चतुर चित्रकार एक ही धरातल पर उत्कीर्ण चित्र में रूपों की ऐसी विशेषता कर देता है कि हमें उस चित्र में वस्तुओं के मध्य में अवकाश और उनकी दूरी और नजदीकी का भान होने लगता है । नाटक के पर्दों में और सिनेमा के दृश्यों में जो दूरी-नज़दीकी का भान है वह इसी आधार पर है । वे सब एक ही धरातल पर हैं, किन्तु रूपों की विशेषता से हमें उनकी दूरी-नज़दीकी का भान हो जाता है । यही बात हमारे वस्तुओं के प्रत्यक्ष में है । चक्षु के धरातल परे आये हुए रूपों की विशेषता से हमें दूरी वा समीपता का भान हो जाता है । इस प्रकार जब वे दूर वा समीप से आगत रूपों में विशेषता मानते हैं तो उन्हें यह भी मान लेना होगा कि वे रूप वस्तु धर्म हैं । प्रकाश की किरणें तो एक ही स्थान से चली हैं, वे सब वस्तुओं का स्पर्श कर आपकी आँखों पर आ जाती है । उनका तो मूल स्थान से समान ही अन्तर हैं, तब दूरी वा नज़दीकी से उनमें विशेषता क्यों आवेगी ? जिन वस्तुओं का स्पर्श कर वे आँख पर आती हैं, वे वस्तुएँ दूर वा समीप हैं । उनकी कुछ विशेषता ये लाती हैं, तभी तो इनमें विशेषता आती है, और दूरी वा समीपता का अनुमान कराती हैं ।

वास्तव में तो दूरी या समीपता हमारे वैदिक विज्ञान के अनुसार अनुमेय भी नहीं, अपितु वे प्रत्यक्ष ही हैं । हम आकाश को निराशून्य नहीं कहते, उसमें भी तत्त्व भरे हुए हैं । वे तत्त्व भी पूर्वोक्त वेद मण्डलों पर प्रभाव डालते हैं, जिससे उनकी बहुलता वा अल्पता भी प्रत्यक्ष से गृहीत हो जाती है और उस बहुलता वा

अल्पता का ही नाम दूरी वा समीपता है यों सूक्ष्म विचार करने पर वस्तु के अंशों का फैलना अर्वाचीन वैज्ञानिकों को भी स्वीकार करना ही पड़ेगा।

ऋक्, यजु: और साम-ये तीनों वेद परस्पर सम्बद्ध रूप में ही रहते हैं। साम मण्डल के अन्तर्गत यजु: ही देखने में, वा चित्र आदि में तथा दूर से प्रभाव डालने आदि में कारण होता है। सब जगत् के प्राणभूत सूर्य को उदाहरण मानकर इन वेदों का विवरण शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार मिलता है—

'यदेतन्मण्डलं तपति, तन्महदुक्थम् ता ऋच: स ऋतां लोक:। अथ यदेतद-चिर्दीप्यते तन्महाव्रतम्, तानि समानि, स साम्नां लोक:। अथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुष: सोऽग्नि: तानि यजूंषि, स यजुषां लोक: ॥ १ ॥ सैषा त्रय्येव विद्या तपति। तदध्यतदप्यविद्वांस आहु:-त्रयी वा एषा विद्या तपति इति। वाग्धैव तत्पश्यन्ती वदति[1] ॥ २ ॥ अर्थात् जो सूर्य का मण्डल तप रहा है, वह 'महदुक्थ' नाम से वेदों में परिभाषित है। यह ऋचा रूप है और ऋचाओं का स्थान है। तथा यह जो प्रकाश फैल रहा है या प्रदीप्त हो रहा है, वह 'महाव्रत' नाम से प्रसिद्ध है, ये ही 'साम' कहे जाते हैं। यह प्रकाश मण्डल सामों का लोक है। इस मण्डल के बीच में जो 'पुरुष' अर्थात् प्राणात्मा व्याप्त है। वह अग्नि है, ये ही 'यजु:' कहे जाते हैं तथा यह यजु: का लोक है। इस प्रकार यह त्रयी विद्या-ऋक्, यजु: और साम ही तप रहे हैं। किन्तु इस त्रयी विद्या अर्थात् तीनों तत्त्वों को भिन्न-भिन्न कहने वाले भी अविद्वान् हैं। यह एक ही वाक्—अर्थात् प्राण के साथ चलने वाला सूक्ष्म तत्त्व—तीनों रूपों से दिखाई देती हुई मानों बोल रही है।

यहाँ ऋक्, यजु: और साम शब्दों का विस्पष्ट विवरण, तथा उनकी वाक्—प्राण रूपता और उनका अन्योन्य सम्बन्ध स्पष्ट अक्षरों में बताया गया है। इसके आगे के ब्राह्मण में सृष्टि प्रक्रिया और अध्यात्म में भी इन तीनों मण्डलों का विवरण है। इससे स्पष्ट सूचित करा दिया गया है कि वस्तु मात्र में ये तीनों विराजमान हैं और तीनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता, तीनों नित्य सम्बद्ध रहते हैं।

शतपथ ब्राह्मण की पुरश्चरण श्रुति में कहा गया है कि—

---

१. शत.ब्रा.,का. १०/५/२

'त्रयी वै विद्या ऋचो यजूँषि सामानि, इयमेव ऋचः, अस्यां त्वर्चति, योऽर्चति सवागेवर्चः, वाचा ह्यर्चति । योऽर्चति सोऽन्तरिक्षमेव यजूँषि, द्यौः सामानि ।'[१]

अर्थात् ऋक्, यजुः और साम नाम की जो तीन विद्याएँ हैं, उनमें यह पृथिवी ही 'ऋक्' है, अन्तरिक्ष ही 'यजुः' है और द्युलोक ही 'साम' है । यहाँ इन लोकों में प्रतिष्ठित होने के कारण ऋक्, यजुः और साम मण्डलों को भी पृथिवी आदि शब्दों से ही कहा गया है ।

एवं पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के जो प्रधान देवता—अग्नि, वायु और आदित्य माने गये हैं, वे भी ऋक्, यजुः और साम नाम से संकेतित हैं । हमारा पार्थिव अग्नि 'ऋक्' है, उसकी व्याप्ति सूर्य मण्डल तक होती है, इसलिए उसकी दृष्टि से सौर अग्नि को 'साम' कहा गया है और मध्य में अग्नि का सहचर वायु-'यजुः' नाम से व्यवहृत है ।

यह भी ऐतरेय ब्राह्मण आदि से सिद्ध है कि अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और आदित्य से साम वेद का प्रादुर्भाव हुआ—ऋग्वेद एवाग्नेरजायत, यजुर्वेदो वायोः, सामवेद आदित्यात् ।[२]

निरुक्तकार यास्काचार्य ने इसका समर्थन करते हुए लिखा कि—

इतरेतरजन्मानो भवन्ति, इतरेतरप्रकृतयः[३]

अर्थात् वेदों से देवता और देवताओं से वेद उत्पन्न होते हैं, दोनों परस्पर मिले हुए एक ही प्रकृति वाले हैं । अतः इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं । लोक में भी देखा जाता है कि तन्तुओं से कपड़ा बनता है और आवश्यकता पड़ने पर कपड़े से सूत भी प्रकट हो जाते हैं, अतः दोनों की प्रकृति परस्पर मिली हुई है ।

---

१. शत.ब्रा.,४/६/७/१

२. ऐत.ब्रा.५/३२

३. निरुक्त,७/४/१२

मनु ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा है—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।

दुदोहयज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम् ।।[१]

अर्थात् ऋग्, यजुः और साम रूप नित्यवेद का दोहन यज्ञ की सिद्धि के लिए क्रमशः अग्नि, वायु और सूर्य से हुआ । वैज्ञानिक वेदों से इसका सम्बन्ध तो है ही, साथ ही ग्रन्थ-रूप वेदों में भी इस सिद्धान्त का समन्वय हो जाता है, क्योंकि ऋग्वेद में प्रधान रूप से इस पार्थिव अग्नि का विवरण है, यजुर्वेद में मुख्यतया अन्तरिक्ष के प्रधान देवता-वायु का वर्णन है और सामवेद में सूर्य का । इसकी पुष्टि तीनों वेदों के आरम्भिक मन्त्रों से होती है । ऋग्वेद का पहला मन्त्र है—

'अग्निमीडे पुरोहितम्' अर्थात् हमारे सम्मुख विराजमान पार्थिव अग्नि का हम प्रस्तवन करते हैं । एवं यजुर्वेद के पहले मन्त्र से वायु का प्रस्ताव किया जाता है—'इषे त्वोर्जे त्वा वायवः स्थः ।' तथा सामवेद के 'अग्न आयाहि वीतये' इस प्रथम मन्त्र में सूर्य मंडल से आने वाले अग्नि अर्थात् सूर्य की ही स्तुति है । यद्यपि सभी वेदों में सभी देवताओं की स्तुति आती है, क्योंकि सब लोकों में वे व्याप्त हैं, किन्तु एक-एक को प्रधान रखकर उसके सहचर रूप में ही अन्य देवताओं की स्तुति की गई है । इसी आशय से 'ऋग्वेद एवाग्नेरजायत' इत्यादि श्रुति में, तथा 'अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मसनातनम्' इस स्मृति में अग्नि, वायु और सूर्य से इन दोनों वेदों की उत्पत्ति बताई गई है । अस्तु ! इन तीनों वेदों को वैदिक परिभाषा में 'वितान वेद' 'रस वेद' और 'छन्दोवेद' कहते हैं । इनमें 'वितानवेद' का परिचय कुछ कराया गया है । इस वितान वेद की सीमा छन्दोवेद हैं, अतः पहले छन्दोवेद का परिचय प्राप्त करना चाहिये ।

छन्दों का निरूपण करते हुए श्रुतियों में यह भी समझाया गया है कि आकारबद्ध वह मूर्तिपिण्ड भी साममण्डल की सीमा तक फैला हुआ है । मर्यादाबद्ध आकार का ही नाम वैदिक परिभाषा में 'छन्द' है । बिना ऋचा के साम रह नहीं सकता, अतः साम के साथ सन्निवेश-बद्ध आकार मूर्ति भी चारों ओर फैलती है ।

१. १/२३

प्रत्येक मूर्ति के व्यास के दोनों ओर वाले बिन्दु ही 'छन्द' हैं । उसी मर्यादा के भीतर वह मूर्तिपिण्ड बँधा हुआ है । वह मूर्ति अग्निरूप है, वही चित्यग्नि है तथा उसे वाक् भी कहते हैं । उसका एक केन्द्र-बिन्दु है, जो प्रजापति का स्थान माना जाता है । उसी के आकर्षण में यह मूर्ति और इसका साम मण्डलबद्ध है । अग्नि में स्वभावत: गति है, अत: मूर्ति का प्रत्येक परमाणु अमृत प्राण के साथ बाहर की ओर चलता रहता है, किन्तु केन्द्र-बिन्दु स्थिर है, वह नहीं चलता । इस वैज्ञानिक प्रक्रिया के अनुसार अपने स्थान पर स्थित मुख्यमूर्ति को 'ऋक्' अन्तिम परिधि पर स्थित चारों ओर बनी हुई अति सूक्ष्म मूर्तियों को 'साम' और मध्य के अनन्त त्रिभुजों पर विराजमान मूर्तियों को और उनमें व्याप्त वाक् वा अग्नि-रस को यजु: कहा जाता है ।

इस प्रकार वितानवेद और छन्दोवेद से यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु का हम तक प्राप्त होना और उसका ज्ञान होना 'वेद' से ही संभव है, इसलिए 'विद्' धातु के लाभ और ज्ञान-इन दोनों अर्थों का समन्वय हो जाता है ।

पूर्वोक्त शतपथ ब्राह्मण के पाठ में 'महोक्थ' और 'महाव्रत' शब्द आये हैं, इनका सम्बन्ध 'रसवेद' से है । इसमें यह बताया गया है कि प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति और स्थिति वेद के आधार पर ही है । यह स्वभाव-सिद्ध है कि प्रत्येक वस्तु से कुछ अंश निकलते रहते हैं और उनकी पूर्ति के लिए कुछ अंश बाहर से आते भी रहते हैं । ये आने और जाने वाले तत्त्व वैदिक परिभाषा में अग्नि नाम से कहे जाते हैं, क्योंकि इस परिभाषा में अग्नि शब्द प्राण का वाचक है, और प्राणतत्त्व का ही आवागमन होता है । यद्यपि 'वाक्' का अंश प्राण के साथ चला जाता है अथवा आ जाता है, वह स्वतन्त्र नहीं है, किन्तु उस वाक् के अंश के कारण ही अग्नि के दो रूप हो जाते हैं—एक अग्नि और दूसरा सोम, और इसीलिए 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' यह श्रुति का सिद्धान्त सर्वत्र व्याप्त है । वाक् के अंश की प्रधानता हो जाने पर 'सोम' नाम पड़ता है । और प्राण की प्रधानता में 'अग्नि' । यों प्राण की भी दो जातियाँ मान ली जाती हैं—एक आग्नेयप्राण और दूसरा सौम्यप्राण । प्रत्येक पदार्थ में बाहर से सोम या सौम्य प्राण ही आते हैं, क्योंकि सोम सर्वत्र व्यापक है, और वह अग्नि के द्वारा आकृष्ट होता है । अग्नि उसे अपनी ओर खींच कर अपने रूप में परिणत कर देती है । फिर वह सोम, अग्नितत्त्व के रूप में ही उससे बाहर निकलता

है और आगे के आकर्षण से अपने घर में मिल कर पुन: सोमरूप हो जाता है । यह बात प्रकाशशील पदार्थों में प्रत्यक्ष देखी जाती है । जैसा कि तेल में सोम अधिक होता है, दीपक उसका ग्रहण करता है और उसे अग्नि का रूप बनाकर बाहर फेंकता रहता है । सूर्य के विषय में आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषण कर बताते हैं कि करोड़ों मन प्रकाश और उष्णता सूर्य से निकलती रहती है, किन्तु उसकी पूर्ति कहाँ से होती है—इसका ठीक पता अभी तक उनको प्राप्त नहीं हो सका । वैदिक विज्ञान इसका पूर्ण परिचय देता है । वेद कहता है कि 'सोमेनादित्या बलिन:' अर्थात् सोम से ही आदित्य बलवान् हैं । अन्तरिक्ष में चारों ओर व्याप्त अनन्त सोम को सूर्यमण्डल का आदित्यप्राण अपने आकर्षण से अपने भीतर लेता है, और उसे अग्नि के रूप में बदलता हुआ समस्त ब्रह्माण्ड में फेंकता रहता है । यह सूर्यमंडल इस विषय में एक दृष्टान्त रूप है । इस प्रकार जगत् के प्रत्येक पदार्थ में आवागमन प्रक्रिया चलती रहती है । इस प्रक्रिया में वस्तु से बाहर निकलने वाले अग्नितत्त्व का नाम वैदिक परिभाषा के अनुसार 'महोक्थ' है । 'उक्थ' शब्द 'उत्थ' से बना है । वह अपने स्थान से उठकर बाहर को चलता है, इसलिए उसे 'उत्थ' या 'उक्थ'कहते हैं । प्रत्येक पदार्थ में छोटा-छोटा 'उक्थ' है, किन्तु सूर्यमंडल का यह उक्थ अति विशाल है, अत: उसे 'महोक्थ' कहा गया है । एवं आने वाले सोम को श्रुति में 'महाव्रत' कहा गया है । वैदिक परिभाषा में 'व्रत' शब्द भोजन छोड़ने और भोजन ग्रहण करने—इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त है । यज्ञ में दीक्षित यजमान जो भोजन करता है, उसका 'व्रत' शब्द से ही व्यवहार होता है । इस क्रम में बाहर से आने वाला पदार्थ प्रत्येक वस्तु का भोजन बनकर उसे पुष्ट करता है । हम जो भोजन करते हैं, वह हमारे शरीर में प्रकृति के द्वारा जो न्यूनता आई है, उसकी पूर्ति कर देता है । इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थों में होने वाली न्यूनता की पूर्ति बाहर से आने वाले सोमतत्त्व से होती है, अत: वह छोटे-छोटे पदार्थों के लिए 'व्रत' है और सूर्य के लिए 'महाव्रत' ।

इस प्रकार निरन्तर आवागमन रहने पर भी वस्तु सर्वथा उच्छिन्न नहीं होती, 'वही वस्तु है'—ऐसी प्रत्यभिज्ञा सदा बनी रहती है । सो वह स्थिर रहने वाली वस्तु अग्नि ही है । श्रुति में उसे अग्नि नाम दिया गया है । तथा उसे ही 'यजु:' बतलाया है । ये यजु: ही रसवेद हैं । 'रसो वै स:' इस सिद्धान्त के अनुसार परब्रह्म रसरूप है, जो कि सम्पूर्ण जगत् का मूलतत्त्व है । उससे ही सम्बन्ध होने के कारण इन्हें 'रस'

कहा और सत्ता का साधन होने के कारण वेद। पूर्वोक्त इस महोक्थ और महाव्रतरूप आवागमन प्रक्रिया से प्रत्येक वस्तु-पिण्ड बनता है तथा इसी के आधार पर स्थिर रहता है, अत: 'यजु:' का 'रस-वेद' यह नाम सार्थक है।

निष्कर्ष यह है कि 'ऋक्' और 'साम' केवल मर्यादा बाँधने वाले हैं, इसलिए वितानवेद और छन्दोवेद में इन्हें 'छन्द' ही कहते हैं। छन्द का अर्थ मर्यादा है। रस-वेद में भी इन्हें 'यजु:' का अश्व या वाहन बतलाया है, क्योंकि आवागमन तो अग्नि का ही होता है। उसके आने तथा जाने की प्रक्रिया ही ऋक् और साम है, मूल तत्त्व तो वाग्रूप या अग्निरूप यजु: ही है। वह सर्वत्र ऋक् से सोममण्डल तक फैला हुआ है। अस्तु ! ग्रन्थरूप वेदों में भी विज्ञान के अनुसार यही प्रक्रिया रखी हुई है। ऋग्वेद पद्यरूप है अर्थात् वाक्यों को नियत मर्यादा में रखने वाला है, एवं सामवेद भी वाक्यों की नियत मर्यादा में बाँधे रहता है, किन्तु वह गेय रूप है, अत: गान में वितनन होकर ऋक् की अपेक्षा वह बहुत विस्तृत हो जाता है। यजुर्वेद गद्यरूप में है, अत: फैला हुआ है। उसके पद या वाक्य किसी नियत मर्यादा में बद्ध नही हैं। यज्ञ का आहुति-प्रदान रूप मुख्य कार्य यजुर्वेद से ही होता है।

वैज्ञानिक क्रम में भी कार्योत्पादक 'यजु:' ही है। उससे ही अनेक तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। शतपथ ब्राह्मण में इसका विवरण इस प्रकार मिलता है—

"अयं वाव यजुर्योऽयं पवते, एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति, एतं यन्तमिदमनुप्रजायते। तस्माद्वायुरेव यजु:, अयमेवाकाशो जू:, यदिदमन्तरिक्षम्, एतं ह्याकाशमनुजवते। तदेतद्यजुर्वायुश्चान्तरिक्षं च यच्च जूश्च। तस्माद्यजुरेष एव ह्येति। तदेतद्यजुर्ऋक्सामयो: प्रतिष्ठितम् ऋक्सामे वहत:।"

यहाँ 'यत् और 'जू' इन दोनों शब्दों से अर्थात् 'यज्जू:' इस शब्द से यजु: बना है। 'यत्' शब्द का अर्थ है गतिशील और 'जू' शब्द का अर्थ है स्थिर। एवं 'यत्' शब्द से वायु और जू शब्द से आकाश का बोध होता है। वायु और आकाश का सम्मिलित रूप 'यजु:' कहलाता है। यह 'यजु:' गतिशील होने के कारण सबको उत्पन्न करता है और आकाश में स्थिति-शक्ति होने के कारण वह सबको प्रतिष्ठित रखता है। महोक्थ और महाव्रत की आवागमन प्रक्रिया में आने जाने वाला यह 'यजु:' ही है। अत: यजु:, ऋक् और साम पर प्रतिष्ठित है। ऋक् और साम इसका

वहन करते हैं, अर्थात् बाहर निकालते और भीतर प्रवेश कराते हैं । इस प्रकार तीनों वेद ही सबके उत्पादक और प्रतिष्ठापक हैं—यही इस श्रुति का आशय है ।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि ये वायु और आकाश पञ्चभूतों के अन्तर्गत वायु तथा आकाश नहीं हैं, क्योंकि पञ्चभूत पीछे उत्पन्न होते हैं और वेद तो प्राण रूप हैं उनसे ही आगे की सृष्टि होती है ।

दूसरी श्रुति में इस 'यजु:' को अग्नि रूप भी कहा गया है ।

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते,
अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
अग्निर्जागार तमयं सोम,
आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥[१]

अर्थात् अग्नि जाग रहा है, ऋचाएँ उसकी कामनाएँ करती हैं,अर्थात् उसी में रहती हैं । साम भी उसी में प्राप्त होते हैं । उसी जागते हुए अग्नि से सोम कहता है कि मैं तुम्हारी मित्रता में हूँ, किन्तु तुमसे छोटी कोटी का हूँ । यहाँ ऋक् और साम के प्रसंगवश अग्नि पद से यजु: ही लिया जाता है । 'यजु:' की अग्निरूपता-पूर्वोक्त 'यदेतन्मण्डलं तपति' इत्यादि शतपथ श्रुति में भी बताई गई है और अग्नि नाम प्राण का है—यह भी पहले कहा जा चुका है ।

संक्षेप में तात्पर्य यह हुआ कि अग्नि रूप स्थित गति शील एक यजुस्तत्त्व से ही यह समस्त सृष्टि होती है । आधुनिक विज्ञान पहले आक्सीजन, हाईड्रोजन आदि को मौलिक तत्त्व मानता था, परन्तु उनका यह मन्तव्य अब बदल गया, वे अब स्वीकार करने लगे हैं कि इनमें भी इलैक्ट्रोन और प्रोटोन नाम के दो तत्त्व हैं । जिनमें प्रोटोन स्थिर है और इलैक्ट्रोन चारों और घूमता है । क्या यह आधुनिक विज्ञान का सिद्धान्त हमारे अतिप्राचीन उक्त वैदिक सिद्धान्त का अनुसरण नहीं करता ? पाश्चात्य विज्ञान की खोज अभी भौतिक तत्त्वों तक ही सीमित है, किन्तु वैदिक विज्ञान इससे कई श्रेणी ऊपर आपको ले जाता है, जिसकी चर्चा हम किसी

---

१. ऋक्.सं.५/४४/१५

दूसरे प्रवचन में करेंगे । यहाँ केवल तीन प्रकार के वेदों का अति संक्षिप्त विवरण आपके सामने रखा गया है ।

इन वेदों का स्फुट प्रादुर्भाव सूर्य में होता है । सूर्य के लिए वेद मन्त्रों में कहा गया है कि 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' अर्थात् स्थावर जंगम समस्त सृष्टि का आत्मा सूर्य है । यह सूर्य त्रयीमय अर्थात् ऋग्, यजु: तथा साममय है—वितान-वेद-छन्दोवेद और रसवेद स्वरूप है । इसीलिये तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है—

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः,
सर्वागतिर्याजुषी हैव शश्वत् ।
सर्वं तेजः सामरूपं हि शश्वत्,
सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ।[१]

अर्थात् सब मूर्तियाँ ऋक् से ही उत्पन्न हुई हैं, संसार में गति अर्थात् ऋचाएँ जितनी हैं वे सब यजु से उत्पन्न होती हैं, और समस्त तेज साम का ही रूप हैं । यह दृश्यमान सारी सृष्टि वेद से ही हुई है ।

यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि अथर्ववेद का इस वैज्ञानिक ऋक् में किस तत्त्व के साथ संबन्ध है ? क्योंकि अब तक उसके विषय में कुछ नहीं कहा गया । इसका समाधान यही है कि वैज्ञानिक परिभाषा में ये तीनों वेद अग्निरूप हैं और अथर्ववेद आप् रूप सोम प्रधान है । सोम प्रधान होने के कारण यह अथर्ववेद सोमवेद भी कहलाता है । गोपथ ब्राह्मण में इसकी संज्ञा 'सुवेद' है । 'सुवेद' से ही 'स्वेद' शब्द की उत्पत्ति वहाँ बताई गई है । उसका तात्पर्य यह है कि तीनों वेदों का स्वेदरूप यह चौथा वेद है । प्रधानता ऋगादि तीनों की ही है । दूसरे, 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इस श्रुति के अनुसार अग्नि में सोम की आहुति पड़ने से ही इस संसार की उत्पत्ति और स्थिति होती है । अग्नि में जिसकी भी आहुति पड़ती है वह अग्नि स्वरूप हो जाता है । अग्नि में सोम की आहुति पड़ने से सोम भी अग्नि स्वरूप हो जाता है । अग्नि अत्ता है, सोम आद्य है—अदनीय है । 'अत्तैव शिष्यते नाद्यम्' इस वचन के अनुसार अन्त में अत्ता ही शेष रहता है । ऋग्वेदादि तीनों वेद अग्निस्वरूप

१. तै.ब्रा.३/१२/९/१

होने से अत्ता हैं, अथर्ववेद सोमरूप होने से अदनीय-अन्न है । अत्ता में अन्न की आहुति पड़ने से अन्न भी अत्ता हो जाता है, अत: सोमरूप अथर्ववेद ऋग्वेदादि त्रयी के अन्तर्गत हो जाता है । इसलिए वेद को त्रयी शब्द से ही कहा गया । अस्तु । इस प्रकार वेद ग्रन्थों का ही मनोयोग से परिशीलन करने पर वेद के वैज्ञानिक स्वरूप ज्ञात होते हैं ।

वैदिक ऋषि और देव

'वेद' नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त भी वेद नाम का कोई पदार्थ है, जिसका प्रतिपादन करने के कारण ही ये प्रसिद्ध वेद 'वेद' कहलाते हैं।

वैदिक तत्त्व मुख्य रूप से पाँच भागों में विभक्त है। ये पाँचों भाग ऋषि, पितर, देव, असुर और गन्धर्व इन नामों से वेद में प्रसिद्ध हैं। इन पाँचों की समष्टि ही 'सूक्ष्म जगत्' कहलाता है। इस 'सूक्ष्म जगत्' का प्रतिपादन करना ही वेद का मुख्य लक्ष्य है इन ऋषि आदि पाँच तत्त्वों के ज्ञान से ही सभी वैदिक तत्त्व समझ में आ जाते हैं। ऋषि और देव प्राणविशेष हैं। जिस प्रकार आज के विज्ञान का मुख्य आधार विद्युत शक्ति है, उसी प्रकार वैदिक विज्ञान प्राणतत्त्व को मूल आधार मान कर प्रवृत्त हुआ है। वैदिकविज्ञान में 'प्राण' और 'रयि' ये दो ही मूल तत्त्व हैं। इनमें भी 'प्राण' ही मुख्य है और 'रयि' उसके अधीन है। प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है—'प्रजाकामो वै प्रजापतिः, स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते, रयिञ्च, प्राणंञ्च, इत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति। आदित्यो ह वै प्राणः, रयिरेव चन्द्रमाः रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च। तस्मान्मूर्तिरेव रयिः।[१]

अर्थात् प्रजापति ने प्रजा की इच्छा की, उसने तप किया, तप से रयि और प्राण का एक जोड़ा पैदा किया और सोचा कि ये दोनों मेरे लिए अनेक प्रकार की प्रजाओं को उत्पन्न करेंगे। इनमें आदित्य ही प्राण है और रयि चन्द्रमा। ये जो मूर्त तथा अमूर्त पदार्थ हैं, सब 'रयि' है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्राणों का आधार सूर्य है और रयि का आधार चन्द्रमा है। सभी पिण्डात्मक मूर्तियाँ 'रयि' नामक तत्त्व से ही उत्पन्न होती हैं। आज के वैज्ञानिकों की परिभाषा के अनुसार प्राण को 'एनर्जि' (Energy) या फोर्स (Force) कह सकते हैं और 'रयि' को 'मैटर कह

१. प्रश्नो. १/४-५

सकते हैं। सभी भौतिक पदार्थों का उपादान कारण रयि या मैटर ही है। 'रयि' को धारण करने वाली शक्ति ही 'प्राण' है। वैदिक परिभाषा के अनुसार शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध रहित अधामच्छद (जगह को न घेरने वाला) तत्त्व ही प्राण है। ये वैदिक प्राण और रयि तत्त्व क्रमशः स्थूलता प्राप्त कर 'अग्नि' और 'सोम' नाम से कहे जाते हैं। इनसे ही सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है। जैसा कि बृहज्जाबालोपनिषद् में कहा गया है—'अग्निषोमात्मकं जगत्।'।[१] इनमें अग्नि प्राण है और सोम रयि है। एक जगह उपनिषद् में यह भी कहा गया है कि प्राण ही सबके आदि में था और वही क्रमशः स्थूल भाव को प्राप्त कर 'रयि' कहलाया तथा समस्त भूत भौतिक जगत् का कारण बना। संक्षेप में तात्पर्य यह हुआ कि मुख्यरूप से एक प्राण तत्त्व ही क्रमशः इस स्थूल जगत् के रूप में विकसित हुआ है। इस प्राण की भी पाँच अवस्थाएँ या पाँच भेद हैं, जिन्हें वेद में क्रमशः ऋषि, पितर, देव, असुर और गन्धर्व कहा गया है। इन पाँचों में भी ऋषि प्राण ही मुख्य है, जैसा कि शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

'असद् वा इदमग्र आसीत्, तदाहुः किं तद् असदासीद्, ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्। तदाहुः के ते ऋषय इति, प्राणा वा ऋषयः।[२]

अर्थात् सबसे पहले —सृष्टि के आदि में 'असत्' ही था। जिज्ञासा हुई, वह 'असत्' क्या था ? उत्तर मिला कि ऋषि ही असत् थे। पुनः आकांक्षा हुई कि 'ऋषि तत्त्व' क्या है ? समाधान हुआ प्राण ही ऋषि हैं। यहाँ 'असत्' पद से प्राणरूप ऋषियों का अभिधान किया गया है, क्योंकि प्राण ही सत्तारूप से सब में अनुप्रविष्ट हुए हैं, तथा प्राणों में दूसरा कोई तत्त्व सत्तारूप से प्रविष्ट नहीं होता, अतः प्राण 'असत्' हैं। जैसा कि नैयायिक द्रव्य को 'सत्' पद से इसलिए कहते हैं कि उनमें समवाय सम्बन्ध से सत्ता रहती है, किन्तु 'सत्ता' को वे 'सती' नहीं मानते, क्योंकि उसमें सत्तारूप से दूसरा कोई तत्त्व नहीं रहता। उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। अस्तु। इसी प्रकरण में 'प्राणा वा ऋषयः' के आगे ऋषियों के सात विभाग का तथा उनसे देवों के प्रादुर्भाव आदि का विवरण विशेष रूप से मिलता है। शतपथ ब्राह्मण

---

१. बृ.जा.२/४

२. शतपथ ब्रा.६/१/१/१

के चौदहवें काण्ड में अर्थात् बृहदारण्यक उपनिषद् में जनक की सभा में ब्रह्म-विषयक विचार के अवसर पर शाकल्य ऋषि के प्रश्नों का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य ऋषि ने देवताओं को प्राण विशेष ही कहा है । शाकल्य ने वहाँ याज्ञवल्क्य से यही पूछा कि कितने देवता हैं ? इस पर याज्ञवल्क्य ने पहले बड़ी लम्बी संख्या बताई । फिर पूछने पर तैंतीस कहा । इस प्रकार शाकल्य के द्वारा बार-बार उसी प्रश्न को पूछे जाने पर उन्होंने क्रमश: छः, तीन, दो, डेढ़ और अन्त में—एक ही देवता है—ऐसा कहा । इसके बाद जब शाकल्य ने इन संख्याओं का विवरण पूछा, तब उन्होंने सबका निरूपण करते हुए 'कतम: एको देव:'[१] अर्थात् वह एक देवता कौन है ? इसके समाधान में कहा कि वह प्राणरूप है, उसी के विस्तार से सब जगत् प्रकट हुआ है, इसलिए उसे ही ब्रह्म कहते हैं और वही 'अमृत पुरुष' भी है ।

इस प्रकार उस प्रकरण को देखने से प्राण ही मुख्य देवता निश्चित होता है । वही प्राणरूप देव-पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में प्रतिष्ठित है, अत: स्थान-भेद से क्रमश: अग्नि, वायु तथा आदित्य इन तीन नामों से व्यवहृत होता है । इनके साथ उन स्थानों की भी गणना करने पर छ: देवता हो जाते हैं । एवं अग्नि, वायु (रुद्र) और आदित्य के अवान्तर भेदों को अर्थात् आठ वसु, ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य तथा इनके केन्द्र में विराजमान इन्द्र और सर्वमण्डल व्यापक प्रजापति को भी गिनें तो तैंतीस देवता हो जाते हैं । यों ही इन प्रत्येक देवताओं के अनन्त कार्यों का भी इनके साथ परिगणन किया जाय तो तैंतीस हजार तैंतीस सौ देवता हो जाते हैं । पुराणों के आधार पर तो यह भी प्रसिद्धि है कि तैंतीस कोटि देवता हैं । इसका तात्पर्य यही है कि प्रसिद्ध इन तैंतीस देवताओं के अनन्त कार्य होने के कारण ही इतनी संख्या मानी गई है । वस्तुत: श्रुति, आदि ग्रन्थों में तैंतीस का ही नामत: उल्लेख मिलता है । इस तैंतीस संख्या का निर्देश मन्त्रों में इस प्रकार हैं—

इति स्तुतासो असथारिशादसो ये स्थत्रयश्चत्रिंशच्च । मनोर्देवा यज्ञियास: ॥[२]

---

१. बृहदारण्यक. ३/९/९

२. ऋक्.सं.८/३०/२

अर्थात् इस प्रकार स्तुति किये हुए जो मनु के संतान भूत तैंतीस देवता हैं, वे ही यज्ञ में उपयुक्त होते हैं । दूसरी शाखा के मन्त्र में तो स्पष्ट रूप से वसु, रुद्र आदि के नाम सुनाई पड़ते हैं ।

यथा—

अग्निः प्रथमो वसुभिर्नो अव्यात्, सोमो रुद्रेभिरभिरक्षतु त्मना ।
इन्द्रो मरुद्भिर्ऋतुथाकृणोत्वादित्यैर्नो वरुणः शर्म संयत् ॥[१]

इस मन्त्र के द्वारा अग्नि, सोम आदि से यही प्रार्थना की गई है कि ये देवता अपने-अपने परिवार के साथ हमारी रक्षा करें ।

इस प्रकार इन तैंतीस देवों का विवरण मन्त्रों में भी उपलब्ध होता है ।

निरुक्तकार श्री यास्काचार्य के मतानुसार प्राणरूप देवता मुख्यतः तीन ही हैं—पृथिवी का देवता अग्नि, अन्तरिक्ष का वायु और द्युलोक का आदित्य । निरुक्त ग्रन्थ के दैवतकाण्ड में उन्होंने लिखा है—

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः । अग्निः पृथिवी स्थानः, वायुर्वा इन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः ।[२]

यहाँ उन्होंने तत्तत्स्थानों में विराजमान प्राण-विशेषो को ही मुख्यरूप से देवता माना है । बृहदारण्यक उपनिषद् में स्थान तथा उनके अवान्तर भेद आदि को मुख्य मान कर ही कई प्रकार की देव-संख्या बताई गई है, अतः यह केवल विवक्षा-भेद है, वास्तविक सिद्धान्त में कोई भेद नहीं ।

हाँ, यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि यास्काचार्य ने अग्नि और वायु का जो निरूपण किया, वे अग्नि-वायु भौतिक पदार्थ नहीं हैं, अपितु प्राणरूप देव-विशेष ही हैं । उन्होंने इसे स्पष्ट शब्दों में कहा है कि—

'यत्किञ्चिद्दार्ष्टिविषयकमग्निकर्मैव तत्, या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्, यत्किञ्चित् प्रवह्लितमादित्यकर्मैव तत् ।'[३]

---

१. आश्वलायन श्रौत. २/११,
२. निरुक्त दैवत का. १ अ.
३. वही ।

अर्थात् जितने प्रत्यक्ष कार्य हैं, वे अग्नि के ही कर्म हैं, तथा बल से होने वाले सभी कर्म इन्द्र के हैं और गुप्त कर्म सूर्य के ही हैं। इनकी सहायता से ही ये सब कार्य होते हैं। अन्तरिक्ष का देवता वायु अथवा इन्द्र है—इस तरह का विकल्प जो यास्काचार्य ने कहा है, उसका आशय निरुक्त भाष्यकार श्री दुर्गाचार्य ने यह बताया है कि—जिन देवताओं का कार्य प्रत्यक्ष देखा जाता है वे ही देवता यहाँ लिये गये हैं। पृथिवी पर अग्नि का कार्य और द्युलोक में आदित्य का कार्य सदा आँख के सामने हैं, किन्तु अन्तरिक्ष में इन्द्र का कर्म तो वर्षा आदि ऋतुओं में ही बिजली की चमक के रूप में कभी-कभी देखा जाता है। सदा अनुभवों में आने वाला कार्य वस्तुत: वायु का ही है, अत: वायु को ही अन्तरिक्ष का देवता पहले कहा, फिर वेदों में इन्द्र की स्तुति बार बार की गई है, अत: देवताओं का राजा इन्द्र भी उपेक्षणीय नहीं, इसलिए वह भी अन्तरिक्ष का ही देव है, इसी आशय से दोनों की सत्ता अन्तरिक्ष में यहाँ बताई गई है। अस्तु ! इन प्रकरणों के अनुसन्धान से यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋषि और देव प्राण विशेष ही हैं।

उनमें ऋषि-प्राण प्रथम हैं, और देव-प्राण बाद में ऋषियों से उत्पन्न होते हैं—ऐसा शतपथ ब्राह्मण में संकेत मिलता है। मनु ने तो स्पष्ट ही कहा है कि—

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देव-दानवाः।
देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥[१]

बहुत सी मनुस्मृति की पुस्तकों में 'देवदानवाः' की जगह 'देवमानवाः' ऐसा पाठ मिलता है, किन्तु विद्यावाचस्पति श्री ओझा जी ने 'देवदानवाः' इस पाठ को ही शुद्ध माना है। उनका कहना है कि देव और असुर-ये दो प्रकार के प्राणविशेष हैं जो कि पितरों से प्रकट होते हैं। वे पितर किं-स्वरूप हैं ? इसका निरूपण अगले प्रवचन में स्वतन्त्र रूप से होगा। पहले ऋषि और देवों के विषय में ही कहना है। भगवान् व्यास ने अपने ब्रह्मसूत्र के देवताधिकरण में देवताओं के विषय में लिखा है—'ज्योतिषि भावाच्च,[२] अर्थात् देवता प्रकाशपुञ्ज में स्थित होते हैं। वे शरीरधारी जीव नहीं हैं, अत: ब्रह्मविद्या में उनका अधिकार संभव नहीं हो सकता। इस सूत्र

१. मनुस्मृति ३/२०१।
२. ब्रह्मसूत्र भाष्य १/३/३२।

के भाष्य में श्री शङ्कराचार्य जी ने भी सूर्य मण्डल में संसक्त आदित्य आदि देवताओं का ही प्रतिपादन किया है। अतः सूर्य मण्डल में संसक्त तथा उसके परिचालक प्राणविशेष ही देवता सिद्ध होते हैं।

यहाँ शङ्का होती है कि यदि अचेतन प्राण विशेष ही देवता हैं, तो व्यास जी ने जो इसी देवताधिकरण के अग्रिम सूत्र में देवताओं के ब्रह्मविद्या में अधिकार का प्रतिपादन किया है, उसकी सङ्गति कैसे बैठेगी ? यह तो स्पष्ट पूर्वापर-विरोध है ? इसका उत्तर यह है कि व्यास जी के इस कथन से शरीरधारी और अशरीरधारी दो प्रकार के देवताओं का संकेत मिलता है, जिसका समर्थन शाङ्कर भाष्य से भी होता है। श्री शङ्कराचार्य ने लिखा है—

'ज्योतिरादिविषया अप्यादित्यादयो देवतावचनाः शब्दाः चेतनावन्तम् ऐश्वर्याद्युपेतं तं तं देवतात्मानं समर्पयन्ति, मन्त्रार्थवादादिषु तथा व्यवहारात्। अस्तिह्यैश्वर्ययोगाद् देवतानां यथेष्टं तं तं विग्रहं ग्रहीतुं सामर्थ्यम्[१] इति। अर्थात् प्रकाशादि के लिए प्रयुक्त होने वाले भी आदित्य आदि देवतावाचक शब्द चेतनावान् तथा ऐश्वर्यादि से युक्त देवताओं के बोधक होते हैं। मन्त्र और अर्थवाद आदि में वैसा ही व्यवहार हुआ है। देवताओं में ऐश्वर्य के कारण यह सामर्थ्य भी है कि वे अपनी इच्छा के अनुसार शरीरधारण कर लेते हैं। अस्तु ! शरीरधारी देवों का निरूपण आगे होगा। यहाँ पहले यही प्रतिपादन करना है कि देवप्राणों से प्रकाश का भाग संपन्न होता है और असुरप्राणों से अन्धकार का। अतः देव प्राण प्रकाश में ही रहकर चक्कर लगाते हैं, और असुर-प्राण अन्धकार में ही स्थित रहते हैं। ये दोनों ही प्राणरूप देवता तथा असुर, पितृ प्राण से प्रकट होते हैं। फिर इनसे गन्धर्व प्राण-पैदा होते हैं। उनमें सात ऋषि, आठ पितर, तैंतीस देवता, निन्यानवे असुर और सत्ताईस गन्धर्व हैं। मानव तो मनु के प्राण से उत्पन्न होता है, और यह इन्द्र का अर्द्धरूप है, अर्थात् प्राण विशेष देवता आदि गोलाकार होते हैं, जैसा आदित्य और सोम आदि। किन्तु मनुष्य वैसा नहीं होता, यह तो आकृति में लम्बा ही होता है। अस्तु ! यहाँ केवल ऋषि और देवतत्त्व का निरूपण करना है। ऋषिप्राण ही इन तत्त्वों में प्रमुख हैं—यह मैंने अभी पहले 'असद् वा इदमग्र आसीत्, इस शतपथ

---

१. ब्रह्मसूत्र भाष्य १/३/३३।

श्रुति की व्याख्या में कहा है । दूसरों से असंपृक्त होने के कारण ये ऋषि-प्राण शुद्ध तथा सबसे पहले उत्पन्न होने वाले हैं । ये प्राण अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत के नाम से तीन प्रकार के होते हैं तथा प्रत्येक में अपने आपको सात-सात संख्या में विभक्त कर विराजमान हैं और अन्य प्राणों को उत्पन्न करते रहते हैं ।

आध्यात्मिक ऋषियों का विवरण शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार मिलता है—प्राणो वै वसिष्ठऋषि: यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठ: अथो यद् विस्तृततमो वसति तेनो एव वसिष्ठ: ।'[१]

मनो वै भरद्वाज ऋषि । अन्नं वाज:, यो वै मनो बिभर्ति सोऽन्नं वाजं भरति, तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषि: । चक्षुर्वै जमदग्निऋषि:, यदनेन जगत्पश्यति, अथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निऋषि: ।[२]

अर्थात् प्राण ही वसिष्ठ ऋषि है, क्योंकि वही सब में श्रेष्ठ है और बहुत व्यापक होकर रहता है, इसलिए भी वसिष्ठ है । एवं मन ही भरद्वाज ऋषि है, अन्न का नाम 'वाज' है और अन्न से जो परिपुष्ट होता है वही भरद्वाज कहलाता है । चक्षु ही जमदग्नि ऋषि है, क्योंकि चक्षु से ही जगत् को देखते हैं और जो देखा जाता है उसी का मनन भी होता है, इसलिए उसे जमदग्नि कहते हैं ।

संहिता में भी सात आध्यात्मिक ऋषियों का संकेत मिलता है ।

ऋक् संहिता का एक मन्त्र है—

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं
षडिद् यमा ऋषयो देवजा इति ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः
स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ।।[३]

इस मन्त्र का आध्यात्मिक आशय समझने के लिए मनुष्य के शरीर में गुहा के नाम से शास्त्रों में प्रसिद्ध जो चार विभाग हैं उनका ज्ञान पहले आवश्यक है ।

१. शतपथ ८/१/१/६
२. शतपथ ८/१/२/३ ।
३. ऋक्.सं.१/१६४/१५ ।

प्रत्येक मनुष्य के शरीर में सबसे ऊपर 'शिरो गुहा' है, दूसरी 'उरो गुहा', तीसरी 'उदर गुहा' और चौथी 'बस्ति गुहा' है। हर एक गुहा में भी सात प्राणों के सात-सात स्थान बने हुए हैं। इनमें छः तो यम अर्थात् दो-दो के रूप में हैं और एक अकेला है। जैसे 'शिरो गुहा' में दो आँख, दो नासिकाछिद्र और दो कान, ये तो युग्म हैं और सातवाँ एक मुख है। इन सातों की श्री के रूप में सबका सार भाग ब्रह्मरन्ध्र है। वह सबकी 'श्री' है, इसीलिए हम उसे 'शिर' शब्द से कहते हैं। इस ब्रह्मरन्ध्र में ज्ञान शक्ति को देने वाला मुख्यप्राण विराजमान रहता है। दूसरी उरोगुहा में दो स्तन दो फेफड़े तथा दो हाथ और सातवाँ हृदय है। इन सातों का केन्द्र स्थान कण्ठ-कूप है। जिसमें पराक्रम शक्ति को देने वाला प्राण है। अर्थात् बल का काम इसी दूसरी उरोगुहा से होता है और ज्ञान का कार्य पहली शिरोगुहा से। सभी ज्ञानेन्द्रिय प्रथम गुहा में ही हैं। तीसरी उदरगुहा में अमाशय और पक्वाशय, यकृत् और प्लीहा, तथा दो वृक्क—ये छः हैं, और सातवीं एक नाभि है। इन सातों का केन्द्र हृदय है, जो पूर्व-गुहा का अन्तिम स्थान है। अन्न संग्रह और उसके विभाजन का हेतुरूप प्राण यही रहता है। चौथी बस्ति गुहा में दो पाँव, उपस्थेन्द्रिय के मूत्रवाहक और वीर्यवाहक को छिद्र, दो अण्डकोश और सातवाँ एक पायु (गुदा) है। पूर्व गुहा का अन्तिम स्थान नाभि ही यहाँ केन्द्र है, जिसमें शरीर क्रम को चालू रखने वाली उत्सर्गशक्ति का जनक प्राण निवास करता है। इस प्रकार शरीर के इन अवयवों में बैठ कर काम करने वाली शक्तियाँ ऋषि-प्राण के ही भेद हैं।

'साकंजानाम्' इत्यादि पूर्वोक्त मन्त्र का विवरण इस प्रकार है—एक साथ प्राणियों के शरीर में उत्पन्न होने वाले इन्द्रियरूप इन ऋषि प्राणों में छः तो युग्म रूप हैं और सातवाँ एक है। ये इन्द्रिय रूप ऋषिप्राण देवज हैं—देवों से प्रादुर्भूत हुए हैं। जैसे चक्षु, सूर्य से, कान, दिशा से और घ्राण, अश्विनियों से उद्भूत हुए हैं। ये ऋषिप्राणरूप इन्द्रियाँ सब प्राणियों के लिए इष्ट हैं। इनके बिना, प्राणी ही नहीं रहता। पृथक् पृथक् स्थानों में तथा पृथक् पृथक् रूपों में अवस्थित ये इन्द्रियाँ अपने अधिष्ठाता आत्मा के उपकार के लिए सदा सचेष्ट रहती है।

यहाँ एक शङ्का होती है कि पहले तो 'ऋषिभ्यः पितरो जाता पितृभ्यो देव दानवाः' इत्यादि मनु का प्रमाण देकर देवों को पितृक्रम से ऋषिज बताया गया है और अब कहते हैं कि 'ऋषयो देवजा इति'—अर्थात् ऋषि देवों से प्रादुर्भूत हुए हैं।

इसका समाधान यह है कि वैज्ञानिक प्रक्रिया में पदार्थों में परस्पर जन्य-जनक-भाव स्पष्ट देखा जाता है। जैसा आक्सिजन और हाइड्रोजन के मेल से जल बन जाता है और वही जल फिर आक्सिजन और हाइड्रोजन में बदला जा सकता है। देवताओं का स्वभाव बताते हुए यास्काचार्य ने निरुक्त में स्पष्ट कहा है कि—'अन्योन्यजन्मानो भवन्ति, इतरेतर प्रकृतय:'[१]—अर्थात् देवता परस्पर एक दूसरे से प्रादुर्भूत हो जाते हैं, अत: परस्पर एक दूसरे का कारण बन जाते हैं। कदाचित् कोई कहे कि निरुक्तकार ने परस्पर जन्य-जनक-भाव की बात देवताओं के विषय में कही है, न कि ऋषि और देवों के विषय में? इसका उत्तर यह है कि वैदिक परिभाषा के अनुसार ऋषि, पितर, देव आदि सब प्राण देवता शब्द से ही कहे जाते हैं, 'देव' शब्द प्राय: ज्योतिर्मय प्राणों के लिए ही प्रयुक्त होता है। अत: उपर्युक्त निरुक्तकार का सिद्धान्त ऋषि, पितर, देव आदि सब पर समान रूप से लागू होता है। अस्तु। उपर्युक्त इन्द्रिय रूप सात ऋषि-प्राणों की चर्चा शतपथ के षष्ठ काण्ड में भी हुई है, उसका तात्पर्य भी पूर्वोक्त मन्त्र के समान ही है। इस प्रकार आध्यात्मिक प्राण-रूप ऋषियों का संक्षिप्त निरूपण हुआ। अधिदैव में भी इनका वर्णन इस प्रकार है—अन्तरिक्ष में रात्रि के समय प्रत्यक्ष दृश्यमान सप्तर्षि नाम से प्रसिद्ध जो तारा-मण्डल है, उसके लिए ऋषि शब्द का प्रयोग भी इसीलिए किया जाता है कि उसमें ऋषि प्राणों की प्रधानता है। तारा मण्डल के ऋषियों के नाम हैं—मरीचि, वसिष्ठ, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु। इनमें पहले तीन त्रिकोण के रूप में देखे जाते हैं और अन्त के चार चतुष्कोण के रूप में। इनके अतिरिक्त आकाश के मध्य में विषुवद्-वृत्त के समीप मत्स्य, वसिष्ठ और अगस्त्य नाम के तारे भी ऋषि कहलाते हैं। इनके स्थान भी नियत हैं। दक्षिण में अगस्त्य, उत्तर में वसिष्ठ और मध्य में मत्स्य में स्थित है। दक्षिण दिशा में स्थित यही अगस्त्य ऋषि पुराणों में समुद्र का पान करने वाले कहे गये हैं। अगस्त्य द्वारा समुद्र पान करने का आशय यह है कि वर्षा ऋतु की समाप्ति के बाद यह अगस्त्य तारा आकाश में स्पष्ट दीखने लगता है और उसके उदित होते ही अन्तरिक्ष स्वच्छ हो जाता है, बादल नहीं दीखते, आकाश में व्याप्त सूक्ष्म जल समाप्त हो जाता है और वर्षा बन्द हो जाती है। वैदिक

---

१. नि.दै.का.,अ.।

परिभाषा में आकाश को भी समुद्र माना जाता है, उसी समुद्र का शोषण इस अगस्त्य तारा से होता है । इस प्रकार पौराणिक कथा में कोई असङ्गति नहीं रहती । वैदिक परिभाषाओं के ज्ञान से, इसी प्रकार की अन्य पौराणिक कथाओं में प्रतीत होने वाले 'असङ्गति', 'असंभाव्यता' आदि दोष भी दूर हो जाते हैं । अब तक के कथन से यह स्पष्ट सिद्ध है कि मरीचि अत्रि आदि प्राण-विशेष हैं, जिनको ऋषि-प्राण कहा जाता है । परन्तु इन नामों वाले मनुष्य विशेष भी आधिभौतिक रूप से इतिहास में ऋषि नाम से प्रसिद्ध हैं । उनकी ऋषि-पद प्राप्ति का मुख्य कारण यही है कि वे ही इन तत्त्वों के आविष्कारक थे, अतः 'ऋषिर्दर्शनात्' के अनुसार वे ऋषि कहलाए, जिस ऋषि ने जिस प्राण-तत्त्व को प्रकट किया वह प्राण-तत्त्व उसी ऋषि के नाम से प्रसिद्ध हुआ । जैसे अत्रि ऋषि द्वारा आविष्कृत प्राण अत्रि नाम से प्रसिद्ध हुआ । मरीचि ऋषि द्वारा प्रकटित तत्त्व मरीचि नाम से कहलाया । इनमें अनेक भेद उपभेद हैं, जिनका सूक्ष्म निरूपण हमारे प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में हुआ है । यहाँ संक्षेप रूप से एक मार्ग उपस्थापित कर दिया गया है, इसी मार्ग के द्वारा अनुसन्धान करने पर विद्वान् अनुसन्धाता को और भी अनेक गुह्यतम सिद्धान्त वेद और पुराणों में मिलेंगे ।

जिस प्रकार आध्यात्मिक आदि भेद से ऋषि तीन प्रकार के बताए गये हैं, ठीक इसी प्रकार देव भी जिनकी संख्या शाकल्य-याज्ञवल्क्य संवाद में ३३ बताई गई है । इन्हीं तीन भेदों में देव भी विभक्त हैं । 'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्,'[१] इत्यादि श्रुतियाँ देवों की आध्यात्मिकता में प्रमाण हैं । श्रुति का तात्पर्य यह है कि अग्नि वाणी के रूप में मुख में प्रविष्ट हो गया, वायु प्राण के रूप में नासिका में घुस गया और आदित्य चक्षु के रूप में आँखों में बैठ गया । यहाँ वाग् आदि इन्द्रियों को अग्नि आदि देवों के रूप में ही बताया गया है । उपनिषद्-भाष्य में भगवान् शङ्कराचार्य ने देवासुर-संग्राम के विवरण में शुभाशुभ चित्त वृत्तियों के संघर्ष को ही देवासुर-संग्राम का रूप दिया है ।

अधिदैवत में सूर्य को स्पष्ट रूप से श्रुति द्वारा देव-प्राण-मय घोषित किया गया है ।

---

१. ऐतरेयोपनिषद्, २/४

'चित्रं देवानामुदगादनीकम्' इत्यादि सूर्योपस्थान के मन्त्र में सूर्य को देवों का समूह कहा गया है। प्रत्यक्ष अनुभूयमान अग्नि वायु आदि देवों के आधिभौतिक रूप हैं।

शतपथ ब्राह्मण के ११ वें काण्ड में लिखा है—'अन्वाख्याने त्वदुद्यते, इतिहासे त्वत' इति। इसका तात्पर्य यह है कि सृष्टि प्रक्रिया में देव दूसरे होते हैं और इतिहास में दूसरे। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वेद सृष्ट्युत्पादक अचेतन देव प्राणों के अतिरिक्त प्राणि रूप देवों का भी वर्णन है। इतिहास का सम्बन्ध प्राणि रूप देवों से ही है।

सत्रस्य ऋद्धिरस्यगन्म ज्योतिरमृता अभूय।
दिवं पृथिव्या अध्यारुहामाविदाम देवान् स्वर्ज्योतिः ॥[1]

इस मन्त्र के उत्तरार्ध में कहा गया है कि हम पृथ्वी से द्युलोक में चढ़े, वहाँ हमें देवों का ज्ञान हुआ। इससे प्रतीत होता है कि द्युलोक में प्राणि-रूप देवों का अस्तित्व है। सांख्य-कारिकाओं में भी 'अष्ट विकल्पो दैवः' इत्यादि कारिका के द्वारा आठ प्रकार की प्राणि-रूप सात्त्विक देव-सृष्टि का वर्णन हुआ है। निरुक्तकार ने भी निरुक्त के सातवें अध्याय में 'अपि वा उभयविधाः स्युः' कह कर देवों को चेतन और अचेतन दोनों प्रकार का माना है। छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्म-विद्या का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन्द्र विरोचन आदि का प्रजापति के पास जाने की कथा आयी है, उससे भी लोकान्तर-वासी प्राणिभूत देवताओं की सिद्धि होती है। आधुनिक विकासवाद मानव योनि में पहुँच कर समाप्त हो जाता है, आधुनिक विकासवाद के अनुसार मानव ही जीव की सर्वाधिक और चरम विकसितावस्था है, उनके यहाँ मानव से ऊपर विकास की कोई गुञ्जाइश नहीं। परन्तु वैदिकवाद का सिद्धान्त ऐसा नहीं है। स्थावर वृक्ष आदि से लेकर मानव तक पृथ्वी का आकर्षण क्रमशः घटता गया है, पेड़ चल ही नहीं सकते; पृथ्वी के अत्यधिक आकर्षण से एक जगह ही गड़े रहते हैं, सर्प, बिच्छू आदि सरीसृप चलते फिरते जरूर हैं, परन्तु पृथ्वी से चिपक कर ही, सौ पाँव वाले, आठ पाँव वाले, छः पाँव वाले जीव पृथ्वी से कुछ ऊपर उठे जरूर परन्तु उनमें भी पार्थिवाकर्षण अधिक ही रहा, सौराकर्षण की कमी

१. यजुः सं.८/५३

से बुद्धि का विकास बहुत कम हुआ। चौपाए और पक्षी आदि दुपाए भूमि से बहुत ऊपर उठे और उनमें सूर्याकर्षण के कारण बुद्धि विकास भी आपेक्षिक अधिक हुआ, परन्तु पार्थिवाकर्षण अवश्य कम हुआ। वह ऊपर सिर करके दो पाँव से सीधा खड़ा हो सका और सौराकर्षण की अधिकता से उसमें बुद्धि का विकास भी खूब हुआ। पार्थिवाकर्षण जिसमें बिलकुल न रहे, प्रभूत सौराकर्षण के कारण जो भूमि को बिलकुल छोड़ दे, वही वैदिक विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार मानव से ऊपर की विकसितावस्था है, जिसे शास्त्रों ने देव योनि कहा है, मानव तक रजो-बहुल और तमो-बहुल सृष्टि है, मानव से ऊपर सत्त्व-बहुल सृष्टि है। इस युक्ति से भी प्राणि-भूत देव सृष्टि का होना सिद्ध हो जाता है।

ये लोकान्तरस्थ प्राणि रूप देव भी शास्त्रों में दो प्रकार के बताए गए हैं—एक आजान-देव और दूसरे कर्म-देव। सृष्टि के आरम्भ से ही जिनको देवत्व प्राप्त है वे आजान देव कहलाते हैं। जो मनुष्य योनि में जन्म लेकर यज्ञ आदि के द्वारा देवत्व प्राप्त कर सके हैं वे कर्म-देव कहलाते हैं। 'मर्तासः सन्तोऽमृतत्वा मानशुः', मर्त्य होते हुए भी जिन्होंने अमृतत्व अर्थात् देवत्व प्राप्त कर लिया, इत्यादि श्रुतियों में कर्म के द्वारा देवत्व प्राप्ति बताई गई है।

इन लोकान्तर-वासी देवों से अतिरिक्त पृथिवीस्थ भी देव होते हैं—ऐसा श्रुतियों में पाया जाता है। शतपथ ब्राह्मण के दूसरे काण्ड में लिखा है—'द्वया हवै देवाः, अहैव देवाः, अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः।' अर्थात् शास्त्रज्ञ, प्रवचन-कर्ता ब्राह्मण लोग मनुष्य-देव कहलाते हैं।

अत्यन्त प्राचीन काल में इस पृथ्वी पर भी प्राकृत त्रिलोकों के आधार पर स्वर्गादि लोकों की कल्पना की गयी थी। शर्याणवत् पर्वत से उत्तर की ओर सुमेरु तक स्वर्ग लोक माना जाता था। उस प्रदेश के निवासी प्राणी भी देव शब्द और उसके विशेष वाचक इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर, अग्नि आदि नामों से व्यवहृत होते थे, इनके विरोधी असुर, राक्षस आदि शब्दों से कहे जाते थे। इनके संग्रामों का विस्तृत वर्णन वेदों में है। भारतीय राजा दशरथ, दुष्यन्त, अर्जुन आदि स्वर्ग लोक में जाकर जिन देवों के सहायक बने, या जिनके पास जाकर इन्होंने अध्ययन किया और सत्कार प्राप्त किया वे देव इसी भूस्वर्ग के निवासी थे। इस भूस्वर्ग की कल्पना श्री

विद्यावाचस्पति जी की अपनी नहीं है । ऐतरेय ब्राह्मण में इसका स्पष्ट संकेत उपलब्ध होता है। वहाँ लिखा है—**देव विशः कल्पयितव्याः, ता अनु मनुष्यविशः कल्प्यन्ते, सहस्राश्वीन वा इतः स्वर्गो लोकः ।** अर्थात् देव-प्रजा की कल्पना पहले करो, पीछे मानव-प्रजा की कल्पना की जायेगी यहाँ से स्वर्ग में घोड़े से हजार दिन में पहुँचा जा सकता है । इससे स्पष्ट सिद्ध है कि भूतलस्थ भी कोई स्वर्ग अवश्य था । पुराणों में इस भूतलस्थ स्वर्ग का विस्तार से वर्णन हुआ है । इस प्रकार वैदिक देव कुल सात प्रकार के सिद्ध होते हैं—पहले मुख्य प्राण रूप देव, दूसरे आध्यात्मिक इन्द्रियस्थ देव, तीसरे आधि-दैविक सूर्यादि-मण्डलस्थ देव, पाँचवें लोकान्तरस्थ प्राणी रूप देव, छठे भूमण्डलस्थ सुमेरु-प्रान्त-वासी देव, सातवें विद्वान्-ब्राह्मण-रूप देव ।

वैदिक-यज्ञ

श्रुति और स्मृति ग्रन्थों में यज्ञ की महिमा बहुत विस्तार से वर्णित है। 'शतपथ' ब्राह्मण में यज्ञ की प्रशंसा अनेक प्रकार से की गई है। जैसे—

'प्रजापतिर्यज्ञः'	शतपथ १, १, १, १३
'यज्ञो विष्णुः'	शतपथ १, १, २, १३
'सैषा त्रयी विद्या यज्ञः'	शतपथ १, १, ४, १
'पुरुषो वै यज्ञः'	शतपथ १,३,५,१
'यज्ञो व देवानामहः'	शतपथ १, ७, ३, २३

इन सब वचनों का परस्पर समन्वय यज्ञ के वैज्ञानिक विश्लेषण से ही होता है।

भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में भी यज्ञ की महिमा बताई गई है—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचर[१] ॥

हे अर्जुन ! तुम आसक्ति छोड़कर यज्ञार्थ कर्म करो, क्योंकि यज्ञार्थ कर्म से अतिरिक्त कर्म ही बन्धक होता है—मनुष्य को जन्म-मरण के चक्र में डालता है।

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वम् एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्[२] ॥

---

१. गीता, ३/९।

२. गीता, ३/१०

सृष्टि के समय प्रजापति ने यज्ञ सहित प्रजाओं की सृष्टि करके उनसे (प्रजाओं से) कहा, इस यज्ञ से तुम फूलो फलो, यह तुम्हारी अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाला हो ।

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ[१] ।।

इस यज्ञ से तुम देवताओं को सम्मानित करो उसके बदले में देवता भी तुम्हें सम्मानित करें, इस प्रकार परस्पर एक दूसरे का सम्मान करते हुए तुम कल्याण प्राप्त करोगे ।

इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि देवताओं और मनुष्यों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने वाला यज्ञ ही है । यह बीसवीं शताब्दी विज्ञान का मध्याह्न है, आज के वैज्ञानिक लोकान्तरस्थ देवों के साथ संबन्ध स्थापित करने के लिए विचार कर रहे हैं, परन्तु उनका विचार अभी तक फलीभूत नहीं हुआ है । भारतीय आर्यों ने तो अति पुरातन काल में ही यज्ञ द्वारा देवताओं के साथ संबन्ध स्थापित कर लिया था । यज्ञ से प्रसन्न होकर देवताओं ने उन्हें साक्षात् दर्शन भी दिये थे । महाभारत और पुराणों में यज्ञ देवताओं का प्रत्यक्ष दर्शन बहुत जगह बताया गया है । ऐतरेय ब्राह्मण में मरुत राजा के यहाँ देवताओं की स्थिति का वर्णन मिलता है—'मरुतः परिवेष्टारो मरुत्तस्यावसन् गृहे ।'[२] श्री शङ्कराचार्य ने भी देवताधिकरण के भाष्य में स्पष्ट कहा है—'भवति हि अस्माकम् अप्रत्यक्षम् अपि चिरन्तनानां प्रत्यक्षम्, तथा च व्यासादयः देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवहरन्ति स्मेति स्मर्यते ।'[३] अर्थात् जो वस्तु हमारे लिए प्रत्यक्ष नहीं है, वह प्राचीनों के लिए प्रत्यक्ष थी, पुराणेतिहासादि में लिखा है कि व्यासादि मुनिगण देवताओं के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते थे । पातञ्जल योगदर्शन में भी लिखा है—'स्वाध्यादिष्टदेवतासंप्रयोगः, देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति, कार्ये चास्य वर्तन्ते । अर्थात् स्वाध्याय शील

---

१. गीता, ३/११ ।
२. ऐ.ब्रा.८/२१ ।
३. ब्रह्म सू. भा., १/३/३३

जपनिरत पुरुष को देवता ऋषि और सिद्ध लोग दर्शन देते हैं, और उसका कार्य करते हैं, अस्तु ।

'यज्ञ' शब्द यज्' धातु से बना है जिसके तीन अर्थ हैं—देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान । देव-पूजा से तात्पर्य है—देवों की पूजा अर्थात् पोषण । आध्यात्मिक आदि तीनों प्रकार के देवों का पोषण (पूजा) 'यज्ञ' से ही होता है । एक तत्त्व की दूसरे तत्त्व में परिणति यज्ञ से ही होती है, दो पदार्थों को परस्पर मिलाने वाला तत्त्व भी यज्ञ ही है—यह बात आगे बताई जायेगी, इसलिये सङ्गतिकरण रूप अर्थ भी 'यज्ञ' में घट जाता है । 'दान' शब्द भी 'दा दाने' और 'दो अवखण्डने' इन दो धातुओं से बनता है, इसलिए इसके दो अर्थ हैं :—देना अर्थात् किसी वस्तु पर अपने स्वत्व को छोड़कर उसे दूसरे को दे देना; और टुकड़े करना अर्थात् अपने किसी अंश को अपने से पृथक् करके दूसरे में अर्पित कर देना । जैसे आपने देखा होगा कि धूप में रखी हुई वस्तु गरम हो जाती है, वहाँ सूर्य अपनी गर्मी का कुछ अंश अपने से पृथक् करके उसे दे देता है, इसीलिए सूर्यास्त होने पर भी वस्तुएँ गरम रहती हैं, यह जो अपने से पृथक् की हुई या छोड़ी हुई वस्तु है, इसे वैदिकपरिभाषा में 'प्रवर्ग्य' कहते हैं, 'प्रवर्ग्य' से ही सृष्टि होती है, 'प्रवर्ग्य' का दूसरा नाम 'उच्छिष्ट' भी है, इसीलिए कहा गया है—'उच्छिष्टाज्जज्ञिरे लोकाः' उच्छिष्ट से ही सब कुछ पैदा हुआ है । यह दोनों प्रकार का दान भी यज्ञ के ही अन्तर्गत है इन सबका स्पष्टीकरण आगे होगा ।

यज्ञ दो प्रकार का है—एक प्राकृत और दूसरा कृत्रिम । मीमांसकों ने कृत्रिम यज्ञ का स्वरूप बताते हुए कहा है—'द्रव्यदेवता-त्यागो यागः ।' अर्थात् किसी देवता के उद्देश्य से हविः आदि वस्तु का त्याग ही यज्ञ है । यह त्याग क्यों किया जाता है ? इससे किस प्रकार और क्या देवता को लाभ होता है ? यज्ञ करने वाले को इससे क्या फल मिलता है ? इत्यादि प्रश्नों का ठीक-ठीक समाधान प्राकृत यज्ञ विज्ञान से ही हो सकता है । प्रकृति में निरन्तर यज्ञ चलता रहता है, उसी के अनुकरण पर कृत्रिम यज्ञों का विधान हुआ है । इसीलिए तो कहा गया है—'देवान् अनुविधा वै मनुष्याः, यद्देवा अकुर्वन्, तदहं करवाणि' इति, अर्थात् मनुष्य भी देवों की तरह ही हैं, जो देवताओं ने किया या कर रहे हैं, वही मैं भी करता हूँ । इसीलिए इसमें जरा भी संदेह का अवसर नहीं है कि कृत्रिम यज्ञों का आधार प्राकृत यज्ञ ही हैं । इन कृत्रिम यज्ञों के द्वारा कथञ्चित् जगत् के प्रतिकूल भी प्राकृत यज्ञ को अनुकूल

किया जा सकता है, इसीलिए ऋषियों ने मानव के कल्याण के लिए इनका आविष्कार किया ।

शतपथ ब्राह्मण के ग्यारहवें काण्ड के चौथे अध्याय में एक कथा आती है—कि एक बार उदीच्य-पश्चिमोत्तर देश में कुरुपाञ्चाल निवासी उद्दालक को यज्ञ का आचार्य बनने के लिए निमन्त्रण मिला, उद्दालक निमन्त्रण के अनुसार वहाँ पहुँचे । इस प्रसङ्ग में वहाँ के विद्वानों के मन में शायद यह विचार आया होगा कि हम भी यज्ञ में आचार्यत्व कर सकते हैं, बाहर से किसी को बुलाने का कारण यही हो सकता है कि वह हमारी अपेक्षा अधिक विद्वान् है, शास्त्रार्थ द्वारा उसकी विद्वत्ता की परीक्षा होनी चाहिए । उदीच्य देश के विद्वानों ने स्वैदायन को, जो कि उस समय वहाँ के उच्चकोटि के वेद-विज्ञाता थे, उद्दालक के पास शास्त्रार्थ के लिए भेजा । स्वैदायन ने उद्दालक के पास जाकर कई प्रश्न किए, जिनमें से एक प्रश्न यह भी था कि हे गौत-गोत्र उद्दालक ! यज्ञ में वही पुरुष वरण के योग्य माना जाता है जो दर्शपौर्णमास यज्ञ की उस प्रक्रिया को जानता है, जिसके कारण सम्पूर्ण प्रजा बिना दाँत के पैदा होती है ? जिसके कारण पीछे दांत पैदा होते हैं ? जिसके कारण ये टूटकर फिर पैदा हो जाते हैं ? जिसके कारण वृद्धावस्था में सब गुजर जाते हैं ? जिसके कारण नीचे के दांत पतले और ऊपर के दांत चौड़े पैदा होते हैं ? दाढ़े फैली हुई होती हैं और जबड़े समान होते हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर उद्दालक नहीं दे सका और उसने वरण द्रव्य-सोने का सिक्का जो उसे दिया गया था, स्वैदायन उनके आगे कर दिया और कहा कि आप मुझसे अधिक वेदज्ञ हैं, इसके अधिकारी आप ही हैं । स्वैदायन प्रेम से उद्दालक को गले लगाकर लौट गए । जब यज्ञ समाप्त हो गया तो उद्दालक विनीत भाव से स्वैदायन के पास पहुँचे और उनसे प्रार्थना की कि जो प्रश्न आपने मुझसे पूछे थे कृपया उनका उत्तर मुझे बता दीजिये । स्वैदायन ने विस्तार के साथ उद्दालक को समझाया, उदाहरणार्थ, क्योंकि यज्ञ में प्रयाज पुरोनुवाक्या से रहित होता हैं इसलिए प्रजा पहले दन्तरहित ही पैदा होती है, क्योंकि हवियाँ पुरोनुवाक्या से युक्त होती हैं, इसलिए पीछे से दांत पैदा होते हैं, इत्यादि । यहाँ यह विचार आवश्यक है कि क्या ये पुरोनुवाक्या प्रयाज आदि वही वस्तु हैं जो कृत्रिम यज्ञों में अपेक्षित होती हैं ? यदि कृत्रिम यज्ञवाली ही ये वस्तुएं हैं तब तो जो दर्शपौर्णमास याग करते हैं उन्हीं के यहाँ संतति का पहले अदन्त होना पीछे से उसके दांत उगना

आदि होने चाहियें, औरों के यहाँ नहीं, परन्तु ऐसी बात नहीं है, याज्ञिक हो चाहे अयाज्ञिक हो, सबके घर संतति पहले प्राय: अदन्त ही पैदा होती हैं, पीछे से उसके दांत उगते हैं । इसलिए यह तो मानना ही होगा कि ये कृत्रिम यज्ञ वाले पदार्थ नहीं हैं फिर ब्राह्मण वाक्य की संगति कैसे हो ? इसका उत्तर यही है कि ये प्रयाजादि पदार्थ प्राकृत यज्ञ के ही हैं, कृत्रिम यज्ञ के नहीं । प्रकृति के द्वारा सदा अनेक प्रकार के यज्ञ होते रहते हैं, उनमें से ही एक प्रकार के यज्ञ को इस आख्यायिका में दर्शपौर्णमास बताया गया है, उसी प्राकृत यज्ञ का यह फल है कि मानव प्रजा प्राय: पहले अदन्त ही होती है, पीछे से उसके दांत पैदा होते हैं, प्रकृति के इस रहस्य को जन सामान्य नहीं जानता था, कोई ऋषि ही उन्हें जान पाता था ।

वैज्ञानिक दृष्टि से यज्ञ का स्थूल स्वरूप है—'अग्नि' में 'सोम' की आहुति पड़ना । यह समस्त ब्रह्माण्ड अग्नि में सोम की आहुति पड़ते रहने से ही स्थित है । इसीलिए उपनिषद् में कहा गया है 'अग्नीषोमात्मकं जगत्—अर्थात् यह जगत् अग्नि-सोम-मय है । अग्नि को अन्नाद-अत्ता खाने वाला-अन्न कहते हैं और सोम को अन्न (खाद्य)कहते हैं । यह सोम सूक्ष्मतम आप् हैं और सर्वत्र आकाश में व्याप्त हैं, केन्द्र शून्य होने के कारण इनका सामान्य नाम 'ऋत' भी है । सोम की स्तुति में ऋग्-वेद का एक मन्त्र है—

त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनय स्त्वंगाः ।
त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ ।।[१]

अर्थात् हे सोम ! तुम ने इन समग्र औषधियों को पैदा किया है । तुमने ही स्थूल जल, गौ इस महान् आकाश को विस्तृत किया है । एवं तुमने ही तेज से अन्धकार को भगाया है । 'ओषध्य: फल पाकान्ता:' इस अमरकोषोक्त वचनानुसार फल पक जाने पर जिनका पौधा नष्ट हो जाता है, उन्हें औषधि कहते हैं । जौ, चना, गेहूँ आदि के पौधे इनके पक जाने पर सूख जाते हैं । इसलिए जौ, चना, गेहूँ, आदि ही यहाँ औषधि माने जाते हैं । सोम से उत्पन्न होने के कारण इन औषधियों में सोम की अधिकता रहती है, आम, अमरूद, अनार आदि के वृक्ष फल पक जाने पर भी बने ही रहते हैं तथा मौसम आने पर पुन: पुन: फल देते हैं, इसलिए इसको औषधि

१. ऋक् सं.,१/९१/२२ ।

में नहीं लेते । इनमें अग्नि की प्रधानता होती है । सोम से शरीर-वृद्धि होती है और बल बढ़ता है । अग्नि से शरीर कृश होता है परन्तु बुद्धि तीक्ष्ण होती है, इसीलिए फलाहारी कृश और बुद्धिमान् देखे जाते हैं, परन्तु जिनका भोजन जौ गेहूँ आदि अन्न-प्रधान है, वे बलिष्ठ तो अवश्य होते हैं, परन्तु उनमें बुद्धि की मात्रा आपेक्षिक रूप से कुछ कम होती है । जल और गौवों की उत्पत्ति भी सोम से ही बतायी गयी है, इसीलिए जल में और गव्य दुग्ध, दधि, घृतादि में भी सोम की ही प्रधानता है । आर्द्रता और स्निग्धता सोम के प्रमुख धर्म हैं, इसीलिए दुग्धादि बल पुष्टि कारक होते हैं । प्रकाश रूप से अन्धकार का निराकरण करना भी सोम का ही धर्म बताया गया है । उदाहरण के रूप में दीपक को लीजिए उसमें तेल सोम-प्रधान है, तेल की एक एक बूँद खीचकर जब अग्नि में आहुत किया जाता है, उसी से प्रकाश की लौ उत्पन्न होती है और अन्धकार को दूर होता है । आकाश में दमकते हुए सूर्य को आप प्रतिदिन देखते ही हैं, यह अनन्त परिमाण में पृथ्वी के किसी न किसी भाग में प्रकाश फेंकता ही रहता है । यह प्रकाश उसमें कहाँ से आया ? इसका समाधान है कि परमेष्ठिमण्डल में सोम व्याप्त है, उसी सोम रूप घृत की अविच्छिन्न धारा द्युलोक की अग्नि रूप सूर्य में निरन्तर पड़ती रहती है, वहाँ प्रकाश रूप में परिणत होकर समस्त ब्रह्माण्ड को जीवित रखती है । यह सूर्य नहीं, यह प्रत्यक्ष समस्त ब्रह्माण्ड को जीवित रखती है । यह सूर्य नहीं, यह प्रत्यक्ष प्राकृत यज्ञ है, जहाँ अन्नाद (अग्नि) में सोम रूप अन्न की आहुति हो रही है । इस प्राकृत यज्ञ के द्वारा ही यह सम्पूर्ण चराचर जगत् उत्पन्न होता है और स्थिर रहता है ।

यह हमारा शरीर भी यज्ञ से ही परिपुष्ट रहता है । इसमें भी वैश्वानर अग्नि है, जिसमें हम अन्न के रूप में प्रतिदिन सायं-प्रातः अन्नरूप सोम की आहुति देते रहते हैं । गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।।[१]

अर्थात् मैं प्राणियों के शरीर में वैश्वानर अग्नि के रूप में स्थिर रहता हूँ और प्राण तथा अपान की सहायता से चार प्रकार के भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चूष्य अन्न

---

१. गीता, १५/१४

को पचाता रहता हूँ। बाहर से अन्दर आने वाला वायु प्राण है और अन्दर से बाहर जाने वाला वायु अपान। वैश्वानर अग्नि में आहुत अन्न ही रस, रुधिर आदि रूपों में परिणत होता हुआ मन बन जाता है, इसीलिए श्रुति में 'मन' को अन्नमय कहा गया है। अन्न किस प्रकार पक कर सूक्ष्म रूप मन बन जाता है यह एक स्वतन्त्र प्रवचन का विषय है, अत: इसकी चर्चा यहाँ नहीं करनी है। यहाँ केवल यही बताना है कि प्रकृति में भी एक प्रकार का यज्ञ होता रहता है, जिसका प्रभाव सभी जड़ और चेतन पदार्थों पर पड़ा करता है। इसी प्राकृत यज्ञ की अनुकृति के रूप में मनुष्यों के द्वारा किये जाने वाले यज्ञ भी प्रतिष्ठित हैं। संवत्सर यज्ञ, अयनसत्र, दर्शपौर्णमास, एकाह, अहीन आदि भेद से मनुष्यकृत यज्ञ कई प्रकार का होता है। इन सभी यज्ञों का वैज्ञानिक निरूपण श्री विद्यावाचस्पति जी ने अपने यज्ञ-सम्बन्धी ग्रन्थों में किया है। जिनमें प्राकृत यज्ञ के विषय में ही विशेष रूप से कहा गया है, क्योंकि इसकी ओर कम लोगों की दृष्टि रही है। आशा है इस विवरण के मनन से विद्वानों को वेदार्थ विचार के लिए एक नया मार्ग मिलेगा।

गत प्रवचन में वैदिक ऋषि और देवों का स्वरूप बताते हुए कहा गया था कि वे दोनों आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक भेद से तीन-तीन प्रकार के होते हैं। यज्ञ आध्यात्मिक आदि भेद से तीन प्रकार का माना जाता है। अग्नि में सोम की आहुति होना तीनों यज्ञों में एक समान है, किन्तु सोम की स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतम अवस्थाओं के कारण, इनमें भेद हो जाता है। मानव शरीर में जो प्राणाग्निहोत्र यज्ञ होता है वह अध्यात्म है, सूर्य आदि में जो सोम की आहुति होती है, वह अधिदैव है। 'सोमेन आदित्या बलिन:' 'आहुत्याप्यायते सूर्य:' इत्यादि श्रुतियों का यही अभिप्राय है कि आदित्य मण्डल से निरन्तर अनन्त परिमाण में प्रकाश और उष्णता निकलने पर भी उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं आती, क्योंकि सोम-तत्त्व की आहुति उसमें अविच्छिन्न रूप से पड़ती रहती है। सोम के कारण से ही आदित्य, मण्डल बलवान है, कभी क्षीण नहीं होता। आधुनिक वैज्ञानिक सूर्य की इस प्रकार क्षति पूर्ति को अभी तक नहीं जान सके हैं। चारों ओर फैलने वाली उष्णता और प्रकाश का मूल स्रोत अग्नि जब सूर्य मण्डल के क्षेत्र से एक दम बाहर निकल जाता है तब वह पुन: सोम रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार अग्नि से सोम और सोम से अग्नि यह चक्र बराबर चलता रहता है, इससे ही समस्त जगत्

के पदार्थ उत्पन्न होते हैं और अपने स्वरूप में स्थिर रहते हैं । इसीलिए वेद में सूर्य को स्थावर जङ्गम जगत् का आत्मा कहा गया है—'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च;' और यज्ञ को जगत् का उत्पादक और पालक कहा गया है । पुरुष-सूक्त में सर्वहुत् यज्ञ के द्वारा ही समस्त सृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है । लोक में भी पदार्थों की उत्पत्ति अग्नि में सोमाहुति-रूप यज्ञ से ही होती है । उदाहरणार्थ गेहूँ, धान आदि औषधियों को ही लीजिये । 'अग्नि गर्भा पृथिवी' इत्यादि श्रुति-वाक्यों से और 'अग्नि: पृथिवी स्थान:' इस निरुक्त वाक्य से यह सिद्ध है कि पृथिवी में अग्नि रहती है । यह अग्नि पृथिवी की ऊपरी परत से आवृत रहती है । इसीलिये किसान को हल जोतकर पार्थिव अग्नि का आवरण हटाना पड़ता है । अग्नि के अनावृत होने पर उसमें उपर्युक्त औषधियों के बीज और जल के रूप में सोम की आहुति दी जाती है, इस यज्ञ से अंकुर की सृष्टि होती है । इस अङ्कुर को सौर अग्नि अपनी ओर खींचती है, इधर पृथिवी का आकर्षण उसे पृथिवी से अलग नहीं होने देता, अत: वह उसी जगह खड़ा खड़ा ऊपर को बढ़ता है, जब तक यथोचित समय पर जल देते रहते हैं, तब तक वह बढ़ता रहता है, क्योंकि जलस्थित सोम सौराग्नि का अन्न है और सौराग्नि स्वयम् अन्नाद है । वह पौधा अग्नि के द्वारा ही भूमि से भी रसादि ग्रहण करता है । इसीलिये अग्नि को ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम मन्त्र में **यज्ञस्य देवम्** यज्ञ का देवता और ऐतरेय ब्राह्मण में अन्नदाता कहा गया है—'अग्नि-र्वै शर्माणि अन्नादीनि प्रयच्छति ।'[१] पृथिवी का रस कृष्ण है और सौर रस हिरण्य वर्ण है, कृष्ण पीत के योग से अंकुर हरित् वर्ण का ही होता है । अग्नि में किसी कारण जब सोमाहुति नहीं पड़ती, तब पदार्थ नष्ट होने लगता है, वैदिक परिभाषा के अनुसार अग्नि में सोमाहुति पड़ने में रुकावट डालने वाला तत्त्व 'यम' कहलाता है । जब इस यम के कारण पौधा पृथ्वी से रस ग्रहण नहीं करता, तब पेड़ सूखने लगता है और पत्ते पीले पड़ जाते हैं, उनमें केवल सौर रस का पीलापन ही भासता है । वृक्ष की शाखा, प्रशाखा, पर्ण, पुष्प आदि सब कुछ सौराग्नि और पार्थिवाग्नि में सोमाहुति से ही होता है ।

---

१. ऐत.ब्रा.,२/५/९ ।

मानवोत्पत्ति में भी यही प्रक्रिया है, गर्भाशयस्थ अग्नि में वीर्य रूप सोम की आहुति दी जाती है, उससे पहले अंकुर की तरह 'कलल' की उत्पत्ति होती है, गर्भाशयस्थ अग्नि में माता के खान-पान आदि के रूप में सोम की आहुति पड़ने से ही वह क्रमश: बढ़ता है और उसमें शाखा प्रशाखादि की तरह अङ्ग फूटने लगते हैं। यही सब आधिभौतिक यज्ञ है।

इस खाने-पीने की क्रिया को छान्दोग्य उपनिषद् में यज्ञ रूप से ही बतलाया गया है। वहाँ लिखा है—'स यद् अशिशिषति, यत् पिपासति, यन्न रमते ता अस्य दीक्षा:, अथ यदश्नाति, यत् पिबति, यद् रमते, तदुपसदै रेति।'[१] दीक्षा, उपसद आदि यज्ञ के अङ्ग हैं, अशनेच्छा, पानेच्छा आदि दीक्षा-स्वरूप है और अशन, पान आदि उपसद स्वरूप हैं।

हम पहले कह चुके हैं कि प्राकृत यज्ञ की प्रक्रिया के अनुकरण पर ही वेदोक्त कृत्रिम यज्ञों का विधान हुआ है। इन कृत्रिम यज्ञों में भी अग्नि में सोम की आहुति दी जाती है। वेदोक्त सोमयाग एक प्रसिद्ध याग है, इसके ज्योतिष्टोमादि कितने ही भेद हैं। इन सब में सोमलता रस की अग्नि में आहुति दी जाती है, यद्यपि इष्टि आदियों में साक्षात् सोम रस की आहुति नहीं दी जाती, तथापि वहाँ भी घृत दुग्ध, तण्डुल आदि सोमतत्त्व प्रधान द्रव्यों की ही आहुति दी जाती है। जैसे अधिदैवत में सोमाहुति (सूर्य) से दिन, मास, वर्ष आदि कालों की गणना होती है, इसी प्रकार कृत्रिम यज्ञों में भी प्रतिदिन सायं काल, प्रात: काल और सन्धिकाल में अग्निहोत्र माससन्धि में अमावस्या और पूर्णिमा को दर्शपौर्णमास तथा ऋतु सन्धि में चातुर्मास्य के विधान से प्राकृत यज्ञ का ही अनुकरण किया गया है। सोमयागों में भी एकाह, अहीन, रात्रिसत्र, अयनसत्र आदि प्राकृत यज्ञ के अनुकरण पर ही होते हैं। 'अयं वै लोको गार्हपत्य:' इत्यादि श्रुतियों में गार्हपत्य आहवनीय और दक्षिणाग्नि इन तीनों अग्नियों को पृथिव्यादि तीन लोक कहा गया है। जैसे इन तीनों लोकों में प्रकृति द्वारा अग्नि में सोमाहुति दी जाती है, इसी प्रकार कृत्रिम यज्ञों में भी इन तीनों गार्हपत्यादि अग्नियों में सोम की आहुति दी जाती है।

अग्नि और सोम की उत्पत्ति भी यज्ञ से ही होती है, देव, भूत, महाभूत आदि भी सब यज्ञ से ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए यज्ञ को प्रजापति भी कहा जाता है।

---

१. छा.उप.,३/१७/१-२

उदाहरण रूप में पृथ्वी की उत्पत्ति का प्रकार वेदोक्त रीति से इस प्रकार है । शतपथ ब्राह्मण के छठे काण्ड में लिखा है कि पृथ्वी की सबसे पहली अवस्था जल थी, जल से फेन बना, फेन से मिट्टी बनी, मिट्टी से रेत बना, रेत से शर्कर (कंकड़) बना, कंकड़, से पत्थर बने, पत्थर से लोहा बना और लोहे से सोना । इन आठों अवस्थाओं का समुदाय ही पृथ्वी है । जल में वायु प्रवेश करता है और निकल जाता है । कभी कभी ऐसा होता है कि वायु के द्वारा जल ऊपर उठाया जाता और उसके अन्दर फँस जाता है, ऐसी अवस्था को बुदबुदा कहते हैं, इसके अन्दर वायु होता है जो ऊपर से जल के पतले स्तर से घिरा रहता है । जब जल का पतला स्तर फूट जाता है तो वायु बाहर निकल आता है, यदि जल का बाहरी स्तर पतला न होकर घनीभूत हो, तो वायु अन्दर ही रह जाता है, बाहर नहीं निकल पाता, उस समय बहुत काल तक दोनों के एक साथ रहने से एक नई, वस्तु बन जाती है, जिसे 'फेन' कहते हैं । यह न जल है न वायु ही है, किन्तु दोनों के मेल से वैदिक परिभाषा के अनुसार एक दूसरे में एक दूसरे की आहुति रूप यज्ञ से, आधुनिक विज्ञान के अनुसार रासायनिक परिवर्तन से एक अपूर्व वस्तु है । इसी प्रकार उस फेन से भी वायु आदि तत्त्वान्तर के संपर्क से एक नई वस्तु, जिसे मृत्स्ना या पङ्क (पाक) भी कहते हैं, उत्पन्न हो जाती है, सर्वथा यह फेन नहीं होता । यह मृत्स्ना जब वायु-तेज आदि संपृक्त होती है तो क्रमश: सिकता, शर्करा, अश्मा के रूप में बदल जाती है । इसी प्रकार पार्थिवाग्नि और सौराग्नि के सम्बन्ध से वह अश्मा लोहा आदि अनेक धातुओं के रूप बदलता हुआ अन्त में सोना बन जाता है ।

संक्षेप में तात्पर्य यह है कि दो वस्तुओं के रूपान्तर परिवृत्तिकारक सम्बन्ध को ही यज्ञ कहते हैं । उनमें जो प्रधान होता है उसका नाम है 'वृषा प्राण' और जो अप्रधान है उसका नाम है 'योषा प्राण ।' वृषा अग्नि-स्वरूप है और योषा सोम-स्वरूप है ।

यद्यपि श्रुति में 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि रूप से जगत् का मूल कारण एक ही तत्त्व को बताया गया है, पर एक तत्त्व अनेक रूपों में किस प्रकार परिणत हो गया, इसकी उपपत्ति के लिए उस एक तत्त्व में एक स्वाभाविक शक्ति माननी पड़ती है । यह बात भी नासदीय सूक्त में 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' इस वाक्य से स्वीकार की गई है । श्रीमाधवाचार्य ने इस वाक्य

में 'स्वधा' शब्द का अर्थ 'माया-रूप शक्ति' ही किया है और कहा है कि सृष्टि के आदि में माया-रूप शक्ति के साथ एक ब्रह्म ही था। उस शक्ति का दूसरा नाम 'बल' भी है, उस समय वह सुप्तावस्था में रहती है, सृष्टि के आदि में जब उसमें क्षोभ होता है, तभी ईक्षण, कामना आदि ब्रह्म में उत्पन्न होते हैं। यही ब्रह्म-शक्ति सम्बन्ध-रूप प्रथम यज्ञ है, जिससे जगत् उत्पन्न होता है। शक्ति-विशिष्ट इसी परमेश्वर से जीव का भी आविर्भाव यज्ञ प्रक्रिया से ही होता है, इस बात को गुरुवर श्री विद्यावाचस्पति जी ने अपने गीता विज्ञान भाष्य के आचार्य-काण्ड में विस्तार से बताया है। यहाँ हम संक्षेप से ही उसका दिग्दर्शन करायेंगे। जब किसी महान् वस्तु का कोई अंश उससे पृथक् होकर स्वतन्त्र रूप से अपना तन्त्र चलाने लगता है तब उस अंश को ऋग्वेद की परिभाषा में 'प्रवर्ग्य' और अथर्ववेद की परिभाषा में उच्छिष्ट कहते हैं। उदाहरणार्थ ज्येष्ठ आषाढ़ की गर्मी में आपने अनुभव किया होगा कि दिन भर तपे हुए मकान अधिक रात बीते भी ठण्डे नहीं हो पाते। सूर्य का ताप सूर्य से पृथक् होकर उन पत्थरों ईंटों को तपाए रखता है, सूर्य अस्त हो जाने पर भी वह बना ही रहता है। सूर्य से पृथक् हुई वह उष्णता या ताप सूर्य का प्रवर्ग्य है, सूर्य का उच्छिष्ट है। इसी प्रकार व्यापक प्रजापति परमेश्वर का अंश योगमाया से संबद्ध होकर प्रवर्ग्य-रूप जीव कहलाता है। महेश्वर का यह प्रवर्ग्य अंश भूतात्मा माना जाता है। इस भूतात्मा को महानात्मा और विज्ञानात्मा व्याप्त कर लेते हैं। भगवान् मनु ने लिखा है—

तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव च।
उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥[१]

अर्थात् वे दोनों महानात्मा और क्षेत्रज्ञ आत्मा भूतों से संपृक्त होकर नानाभूतों में स्थित उस भूतात्मा को व्याप्त करके स्थिर रहते हैं। मनुस्मृति के बारहवें अध्याय में इन आत्माओं का कुछ विवरण मिलता है। इनके विवेचन के लिए एक स्वतन्त्र व्याख्यान अपेक्षित है। अस्तु। महेश्वर का यह प्रवर्ग्य महान् आत्मा से उत्पादित इन्द्रियों से संपन्न होकर अपना राज्य स्वतन्त्र रूप से अलग ही चलाता है, यही जीवात्मा है।

---

१. मनु.,१२/१४।

'यज्ञो वै प्रजापतिः' सर्वेषां वा एष भूतानां सर्वेषां देवानामात्मा यज्ञः' इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है कि प्रजापति महेश्वर भी यज्ञरूप है, उससे पृथक् होने वाला उसका प्रवर्ग्य भूतात्मा भी यज्ञ स्वरूप ही है। यही यज्ञ जीवभाव का जनक है और उसका रक्षक है। प्रारम्भिक यज्ञ जनक है, उसके आगे होने वाला यज्ञ रक्षक है। प्रथम यज्ञ के द्वारा इस जीव का शरीर, इन्द्रिय आदि से सम्बद्ध होता है, द्वितीय यज्ञ से इसका पालन होता है। दोनों यज्ञों में सात आहुतियाँ होती हैं—शुक्राहुति, महदाहुति, प्राजापत्याहुति, वैश्वदेव्याहुति, ब्राह्मज्योतिराहुति श्री और लक्ष्मी की आहुति; जब तक ये आहुतियाँ अविच्छिन्न रूप से चलती रहती हैं, तब तक ही जीव का जीवन है। किसी प्रतिबन्ध के कारण आहुति का विच्छेद होते ही यज्ञ विच्छिन्न हो जाता है और जीव-राज्य उच्छिन्न हो जाता है अर्थात् उसका मरण हो जाता है। जीव के जीवन का यह यज्ञ स्वभावतः 'षट्त्रिंशत् सहस्राह सत्र' कहलाता है, अर्थात् यह यज्ञ यदि विघ्न बाधा न पड़े तो पूरे ३६००० (छत्तीस हजार) दिन का होता है। अर्थात् सौ वर्ष का होता है। जिन सात आहुतियों के नाम मैंने अभी गिनाए हैं, उनका वर्णन यजुर्वेद के उत्तर नारायण सूक्त के ६ मन्त्रों में विस्तार से किया गया है।

यज्ञ का विषय अति गम्भीर है। इतने थोड़े से समय में जो कुछ भी मैं प्राकृत यज्ञ के सम्बन्ध में कह सका हूँ, उसका सार यही है कि प्राकृत यज्ञ के पोषण के लिए ही कृत्रिम यज्ञ किये जाते हैं। 'देवान् भावयतानेन....' इत्यादि गीता के श्लोक का अभिप्राय भी यही है। प्राकृत यज्ञ से ही यह जगच्चक्र चल रहा है। 'प्राकृत यज्ञ के पोषण के लिए ही यह मेरे सायं प्रातः अग्निहोत्र आदि यज्ञ है—ऐसी भावना से किये जाने वाले कर्म बन्धक नहीं होते। यही 'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः' का तात्पर्य है। प्राकृत यज्ञ की पुष्टि के लिए किया जाने वाला कर्म ही यज्ञार्थ कर्म है। इससे भुक्ति-मुक्ति दोनों की उपलब्धि हो जाती है।

आज के वैज्ञानिक अन्वेषक यदि वेदोक्त इन प्राकृत यज्ञ की ओर भी दृष्टि डालें और तत्परता से अनुसंधान करें तो इससे जगदुपकारक अनेक अद्भुत तत्त्व प्रकाश में आ सकते हैं।

वेदों में पितर

संसार में तीन प्रकार के ही पदार्थ देखने में आते हैं—ज्ञान, क्रिया और अर्थ। इन तीनों का मूल वेद में क्रमशः मन, प्राण और वाक् को बताया गया है। श्रुतियों में इस विश्व के मूल कारण आत्मा को—'सोऽयमात्मा मनोमयः, प्राणमयः, वाङ्मयश्च' इत्यादि रूप से मनोमय, प्राणमय, वाङ्मय कहा गया है। ज्ञान मन का धर्म है, क्रिया प्राण का और अर्थ वाक् का धर्म है—अर्थात् मन, प्राण और वाक् से ही क्रमशः समस्त ज्ञान, क्रिया और अर्थ पैदा होते हैं। 'वाचीमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः' इस श्रुति से भी यह सिद्ध है कि समस्त भुवन वाक् में ही स्थित है—अर्थात् समस्त भूतों का हेतु वाक् ही है।

उपनिषदों में जहाँ भी सृष्टि का प्रकरण आया है। वहाँ लिखा है—'स ऐक्षत, स तपोऽतप्यत, सोऽक्राम्यत्।' अर्थात् ब्रह्मा ने सृष्टि से पूर्व ईक्षण किया, तप किया और श्रम किया। ईक्षण ज्ञान स्वरूप है, जो मन का धर्म है, तप क्रिया-स्वरूप है जो प्राण का धर्म है, श्रम वाक् का धर्म है, वाक् में श्रमरूप क्षोभ होने से ही समस्त अर्थ उत्पन्न होते हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि मन प्राण और वाक् ही विश्व के मूल हैं, जब इनमें क्षोभ होता है, तभी पदार्थों की उत्पत्ति होती है। देव और ऋषि' विषयक अपने चौथे व्याख्यान में मैंने कहा था कि वैदिक विज्ञान का मूल आधार 'प्राण शक्ति' ही है। प्राण से ही गति पैदा होती है, गति और क्रिया एक ही वस्तु है। इस गति-शक्ति या क्रिया-शक्ति को ही माया, बल आदि शब्द से भी उपनिषदों में कहा गया है। गति दो प्रकार की होती है—एक केन्द्र बिन्दु से परिधि की ओर तथा दूसरी परिधि से केन्द्र की ओर। केन्द्र से परिधि की ओर होने वाली गति को 'गति' शब्द से ही कहा जाता है, परिधि से केन्द्र की ओर होने वाली गति का नाम 'आगति' है। इन्हीं गति और आगति को कई जगह श्रुतियों में क्रमशः अग्नि और सोम कहा गया है। 'यही गति और आगति या अग्नि और सोम मुख्य रूप से

जगत् के उत्पादक हैं । संक्षेप में तात्पर्य यह है कि गति और आगति अथवा अग्नि और सोम का मूल कारण प्राण ही है ।

प्राण कई प्रकार का है । ऋषि, पितर, देव, असुर और गन्धर्व ये प्राण के ही अनेक भेद वेद में बताए गए हैं । शतपथ के छठे काण्ड में 'प्राणा वा ऋषयः' कह कर ऋषि-प्राणों की चर्चा की गई है । ये ही ऋषि आदि पाँचों प्रकार के प्राण सूक्ष्म जगत् कहलाते हैं । ऋषि और देव के प्राणों की चर्चा मैं अपने चौथे व्याख्यान में कर चुका हूँ । आज आपके सामने पितरों के सम्बन्ध में ही कुछ कहना है । मनु ने श्राद्ध-प्रकरण में पितरों की उत्पत्ति का वर्णन किया है—

मनो हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः ।
तेषामृषीणामाद्यानां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ।।[१]

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देव-दानवाः ।
देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरं स्थास्न्वनुपूर्वशः ।।[२]

हिरण्यगर्भ-सुत मनु के मरीचि आदि पुत्र थे, ये मरीचि आदि आद्य ऋषि थे, इन्हीं आद्य ऋषियों के पुत्र पितृगण हुए । ऋषियों से पितर हुए, पितरों से देव दानव (असुर) हुए और देवों से चराचर जगत् उत्पन्न हुआ ।

गति-स्वरूप अथवा अग्नि-स्वरूप जो प्राण हैं उन्हें ही ऋषि प्राण कहा जाता है । उन ऋषि प्राणों के साथ जब सोम का सम्बन्ध होता है तब सोम्य प्राणों की उत्पत्ति होती है । इन्हीं सोम्य प्राणों को पितृ-प्राण कहा जाता है । 'ऋषिभ्यः पितरो जाताः' इस मनु वाक्य का भी यही तात्पर्य है ।

भूः, भुवः, स्वः आदि सात व्याहृतियाँ आपने अवश्य पढ़ी या सुनी होंगी, ये सात लोक हैं भूः—पृथ्वीलोक या पथ्वीमण्डल भुवः—अन्तरिक्ष लोक है, जिसे चन्द्र मण्डल भी कहते हैं, अन्तरिक्ष में सोम व्याप्त रहता है—इसलिए उसे 'सोम-मण्डल' या 'चन्द्र-मण्डल' भी कहा जाता है । 'सोम' और 'चन्द्र' शब्द समानार्थक हैं । स्वः-आदित्यलोक है या आदित्य-मण्डल है, महः—अन्तरिक्ष है,

---

१. मनुस्मृति ४/१९४ ।

२. मनुस्मृति, ३/२०१ ।

जन: परमेष्ठिलोक है या परमेष्ठि-मण्डल है, तप:—अन्तरिक्ष है और सत्य—सत्य लोक है या स्वयंभू-मण्डल है । 'मह:' और 'तप:' में भी 'भुव:' की तरह सोम व्याप्त है, परन्तु वहाँ वह मण्डलाकार में उपलब्ध नहीं है, जैसा कि 'भुव:' में 'चन्द्र-मण्डल' के रूप में सोम उपलब्ध होता है, अत: आदित्य के ऊपर के दो अन्तरिक्षों की मण्डलों में गणना नहीं की गई । इस प्रकार मण्डल पाँच ही हैं—पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, परमेष्ठी और स्वयंभू । वेदों में इसे 'पञ्चपुण्डीरा वल्शा—पाँच पर्वों वाली शाखा' कहा गया है । अनन्त ब्रह्माण्ड की पाँच पर्वों वाली एक शाखा यह भी है, जिसके एक पर्व-रूप चतु: समुद्र-मुद्रित इस पृथ्वी में हम लोग रहते हैं । इन पाँच मण्डलों में चर्चा यहाँ इसलिए की गई है कि आपको जगत् के मूल कारण प्रथम ऋषि-प्राणों का स्थान बताया जा सके । ऋषि-प्राणों का उद्गम स्वयं-भू मण्डल में होता है, उसके बाद परमेष्ठि मण्डल में पितरों (पितृ प्राणों) का प्रादुर्भाव होता है । तृतीय सूर्य मण्डल में देव प्राण प्रकट होते हैं ।'ऋषिभ्य: पितरो जाता: पितृभ्यो देव-दानवा:' इत्यादि मनु के श्लोक में प्राणों के आविर्भाव का यही क्रम बताया गया है ।

पितृ प्राण सोम प्रधान हैं, पदार्थ का स्वरूप, आकार आदि सोम से ही बनता और सुरक्षित रहता है, इसलिए 'पान्ति-रक्षन्ति इति पितर:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उन्हें पितर कहा गया है ।

पितर तीन प्रकार के होते हैं—दिव्य पितर, ऋतु पितर और प्रेत पितर । वेद का एक मन्त्र है—

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमा: पितर: सोम्यास: ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥[१]

इस मन्त्र में दिव्य पितरों के तीन भेद बताये गये हैं—अवर, मध्यम और पर । ऋषि प्राणों से सोम का सम्बन्ध होने से ही सोम्य पितृ-प्राणों की उत्पत्ति होती है, इसीलिए मन्त्र में 'सोम्यास:' यह पितृ-विशेषण दिया गया है, सोम प्रधान रूप से अन्तरिक्ष में ही रहता है, 'भुव:', 'जन:' और 'तप:' ये तीन अन्तरिक्ष हैं । 'भुव'नामक अन्तरिक्ष जो सूर्य-मण्डल और पृथ्वी-मण्डल के बीच में है, इसमें अवर संज्ञक दिव्य पितर रहते हैं । 'मह:' नामक अन्तरिक्ष जो परमेष्ठि-मण्डल और

---

१. अथर्व वेद, १८/१/१/४४ ।

सूर्य-मण्डल के बीच में है, उसमें 'मध्यम' दिव्य परमेष्ठि-मण्डल और सूर्य-मण्डल के बीच में है, उसमें 'मध्यम' दिव्य पितर रहते हैं, एवं 'तपः' नामक अन्तरिक्ष में जो स्वयंभू-मण्डल और परमेष्ठि-मण्डल के बीच में है 'पर' पितर रहते हैं। यद्यपि पहले हमने कहा है कि पितृ-प्राणों का उद्गम परमेष्ठि-मण्डल में ही होता है तथापि परिपोषण उनका महर्लोक महः नामक अन्तरिक्ष में ही होता है और ऊपर 'तपो' नामक अन्तरिक्ष तक उनकी व्याप्ति है।

अथर्ववेद में इन तीनों अन्तरिक्ष को क्रमशः नीचे से ऊपर की ओर तीन नाम दिये हैं—'उदन्वतो द्यौ', 'पीलुमती द्यौ' और 'प्रद्यौ', और इन तीनों में पितरों की स्थिति बताई गई है। मन्त्र इस प्रकार है—

उदवन्ती द्यौरवया पीलुमतीति मध्यमा।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितरं आसते ॥[१]

ये ही तीनों दिव्य पितर क्रमशः ऊपर से नीचे की तरफ, ऊर्ध्वमुख (नान्दीमुख), अश्रुमुख और प्रेत कहलाते हैं। सबसे ऊपर विराजमान होने के कारण उन्हें ऊर्ध्वमुख या नान्दीमुख कहा जाता है। 'टुर्नाद समृद्धौ' धातु से बना नान्दी शब्द समृद्धि का सूचक है। मध्यमस्थानस्थ मध्यम पितर जलोत्पादन में भी कारण बनते हैं, अतः उन्हें अश्रुमुख कहा गया है। अश्रुजल रूप ही होते हैं। 'ये के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' इस कौषीतकि श्रुति के अनुसार मृत्यु के अनन्तर धूम मार्ग से जाने वाले प्रेत ज़ीव चन्द्र-लोक में ही जाते हैं, वहाँ दिव्य पितरों के साथ उनका संगम हो जाता है, प्रेत जीवों के साथ संगम होने के कारण उन्हें प्रेत पितर कहा गया है।

ये दिव्य पितर प्रत्येक तीन-तीन प्रकार के हैं—अन्न-रूप, अन्नाद रूप और तटस्थ। जो दूसरों का उपभोग्य (अन्न) बनकर उनका ही पोषण करते हैं वे अन्न रूप पितर हैं। जो अन्न-भोक्ता हैं वे अन्नाद पितर कहलाते हैं। जो न किसी के अन्न (उपयोग्य) बनते हैं, न स्वयं अन्न खाते हैं वे तटस्थ पितर कहलाते हैं। इनमें जो अन्न रूप हैं वे 'अग्निष्वात्त बर्हिषद्' 'सोम-सद्' कहलाते हैं। जो अग्नि द्वारा

१. अथर्व.,१८/२/२/४८।

ही आत्मसात् किये जाते हैं, जो अग्नि के आहार बन जाते हैं वे 'अग्निष्वात्त' पितर हैं, जो अन्न-रूप कठिन द्रव्य में रहते हैं वे 'बर्हिषद्' हैं, जो तरल द्रव्य में रहते हुए दूसरों के उपयोग्य बनते हैं, वे सोम-सद् हैं। अन्नाद पितर भी तीन प्रकार के हैं—हविर्भूज, आज्यप और सोमप। तटस्थ पितरों का दूसरा नाम हैं—सुकालिन्। इस प्रकार दिव्य पितर सात प्रकार के होते हैं—अग्निष्वात्त, बर्हिषद्, सोमसद् हविर्भुज्, आज्यप, सोमप और सुकालिन्।

पुराणों में यद्यपि पितरों की संख्या आठ बताई गई है और उनमें कइयों के नाम पहले बतलाए गये नामों से भिन्न भी हैं, जैसे—

कव्यवाडनलः सोमो यमश्चैवार्यमा तथा।
अग्निष्वात्ता बर्हिषदः सोमपाः पितृदेवता॥

अर्थात्—कव्यावाड्, अनल, सोम, यम, अर्यमा, अग्निष्वात्त, बर्हिषद् और सोमप ये आठ पितृरूप देवता हैं। तथापि पूर्वोक्त से इस वचन का विरोध नहीं है। इस श्लोक में 'कव्यवाड्' पद से 'हविर्भुज्' नामक दिव्य पितर लिए जाते हैं। पितरों की 'हवि को 'कव्य' कहते हैं, कव्यं वहतीति कव्यवाड् यह व्युत्पत्ति भी इसका समर्थन करती है। 'अनल' पद अग्नि का समानार्थक है। इससे अग्निसहचर आज्यप पितर लिये जाते हैं, सोमपद से सोमसद् पितर लिए गये हैं। 'अर्यमा' से सुकालिन् पितर लिए गए हैं। शेष यम शब्द रह गया है। पितृसहचारी होने के कारण ही यम की पितरों में गणना कर दी गई। परिभाषा मात्र में भेद है, वास्तविक विरोध कोई नहीं है।

तीन लोकों में स्थित इन पितरों के तीन सहचारी देवता हैं—अग्नि, वायु और आदित्य। अग्नि के आठ भेद हैं जो 'अष्ट-वसु' नाम से प्रसिद्ध हैं। वायु भी ग्यारह प्रकार का है जो एकादश रुद्र रूप से प्रख्यात है। इसी प्रकार अदिति-सुत आदित्य भी बारह प्रकार का है। ये अग्नि आदि देवता पितृ-सहचारी होने के कारण अथवा याज्ञवल्क्यादि स्मृतियों में पितृ-सहचारी होने के कारण अथवा याज्ञवल्क्यादि स्मृतियों में पितृ-रूप से ही वर्णित हुए हैं, जैसे याज्ञवल्क्य स्मृति का श्लोक है—

वसुः रुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः ।
प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितृनाज्येन तर्पिताः ।।[१]

वसु, रुद्र और अदितिसुत ये पितर श्राद्ध के देवता माने गए हैं । घी के द्वारा तर्पित ये देवता मनुष्यों के पितरों को तृप्त करते हैं ।

पितृ सहचारी देवताओं में 'यम' नाम का भी एक देवता है । अग्नि में सोम की आहुति का विच्छेदक प्राण 'यम' कहलाता है । सोमाहुति का विच्छेद होने पर पदार्थ उच्छिन्न हो जाता है, उसकी मृत्यु हो जाती है । इसीलिए इस यम का नाम मृत्यु भी है 'यम' नाम दो संख्या का भी है । यदि किसी वैद्य को किसी रोगी की चिकित्सा के लिए बुलाने दो व्यक्ति भेजे जाते हैं, तो वैद्य उस रोगी की चिकित्सा के लिये नहीं जाता, क्योंकि यम (दो) उसे बुलाने आया है, वह उसे अपशकुन समझता है । इसलिए वैद्य को बुलाने कि लिए दो व्यक्ति नहीं भेजे जाते । सोम भी पितृ-सहचर देवता है, अग्नि की पितृ-सहचारिता हम पहले ही बता चुके हैं । इन तीनों के लिए श्राद्ध के आदि में सबसे पहले आहुति दी जाती हैं—'अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा, सोमाय पितृयते स्वाहा, यमाय अङ्गिरस्वते स्वाहा ।' इसके अनन्तर ही पितरों का पूजन होता है । अस्तु ! संक्षेप में दिव्य पितरों का वर्णन हुआ । अब क्रमशः ऋतु पितर और प्रेत पितरों के सम्बन्ध में भी सुनिये । ऋतुओं में जो आप अन्तर देखते हैं वह अग्नि में समाहुति के घट बढ़ के कारण होता है । जब उत्तरायण होता है अर्थात् सूर्य जब उत्तर की ओर संक्रमण करता है तब 'ऋत' पदार्थ की उत्पत्ति होती है, जो केन्द्र शून्य होता है, उसे वैदिक परिभाषा में 'ऋत' कहते हैं । उत्तरायण होने पर संवत्सराग्नि का एक भाग ऋताग्नि विशेष रूप से प्रकट होता है, दक्षिण दिशा की ओर चले जाने पर, सोम अधिक मात्रा में उत्पन्न होता है, पिण्डजनक होने के कारण सोम को सत्यपद से कहा जाता है, सकेन्द्र वस्तु को वैदिक परिभाषा में 'सत्य' कहते हैं, पिण्डात्मक वस्तुएँ सभी सकेन्द्र होती हैं । 'ऋतं च सत्यं च' इस शीर्षक से एक लेख हमारा वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालय की 'सरस्वती सुषमा' पत्रिका में मुद्रित हुआ है, उसे पढ़कर आप ऋत और सत्य के विषय में कुछ अधिक जानकारी प्राप्त कर सकेंगे । वर्ष में बारह मास और छः ऋतुएँ

---

१. याज्ञवल्क्यस्मृति, १/२६९ ।

होती हैं। छः महीने अर्थात् तीन ऋतुओं में 'ऋत' अग्नि की वृद्धि होती है और सोम का ह्रास होता है। शेष छः महीनों में अर्थात् शेष तीन ऋतुओं में सोम का आधिक्य और अग्नि का ह्रास होता है। अग्नि और सोम के न्यूनाधिक भाव होने से ही उनके प्रभाव में अन्तर पड़ता है और इसी अन्तर के कारण ऋतुओं के नामों में भी भेद हो जाता है। जब ऋताग्नि विशेष रूप में प्रकट होकर पदार्थों में निवास करने लगती है, तब 'वसन्त' ऋतु कहलाती है वसन्त शब्द 'वस' धातु से बना है। ऋताग्नि के वास के कारण ही 'वसन्त ऋतु' यह नाम पड़ा है। जब यह ऋताग्नि अधिक मात्रा में बढ़ने और पदार्थों को पकड़ने लगती है, तब ऋतु का नाम होता है 'ग्रीष्म'। 'ग्रह' धातु से ग्रीष्म शब्द बनता है, जिसका अर्थ है पकड़ना, पदार्थान् गृह्णातीति ग्रीष्मः—अर्थात् पदार्थों को पकड़ लेती है, सूर्यास्त के बाद भी पदार्थ गरम रहने लगते हैं। जब वह ऋताग्नि अपनी पूरी प्रौढ़ता में आ जाती है तब ऋतु का नाम होता है वर्षा, संस्कृत में बड़ी उम्र के आदमी को वर्षीयान् और वर्षिष्ठ ही कहते हैं। ये छः महीने अर्थात् वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा ऋतुएँ ऋताग्नि का क्रमिक वृद्धिकाल हैं। इसके अनन्तर ऋताग्नि क्रमशः ह्रसित होने लगती है और सोम की वृद्धि होने लगती है। ऋताग्नि के ह्रास की पहली ऋतु शरद् है। इसमें ऋताग्नि शीर्ण होने लगती है, 'श्रृ विशरणे' धातु से 'शरद्' शब्द बना है, जिसका अर्थ है बिखरना, घटना। जब ऋताग्नि का और अधिक ह्रास हो जाता है और सोम की अधिक वृद्धि हो जाती है तब 'हेमन्त' ऋतु होती है, इस ऋतु में ऋताग्नि अधिक हीन हो जाती है, 'ओहाक्' धातु से 'हेमन्त' शब्द बना है, जिसका अर्थ है छोड़ना, हीन होना। जब ऋताग्नि बहुत क्षीण हो जाती है और सोम की पूर्ण मात्रा में वृद्धि हो जाती है तब 'शिशिर' ऋतु होती है। इस ऋतु में ऋताग्नि अत्यधिक विशीर्ण हो जाती है। 'शिशिर' शब्द पूर्वोक्त 'श्रृ विशरणे' धातु से यङ्लुगन्त प्रक्रिया के अनुसार बना है। 'ऋताग्नि' के साथ संबन्ध होने से ही इनका 'ऋतु' यह नाम पड़ा है।

इन ऋतुओं के नामों से ही यह स्पष्ट है कि ये केवल काल विशेष बोधक ही नहीं हैं किन्तु उन-उन कालों में विशेष रूप से प्रादुर्भूत होने वाले अग्नि सोम आदि पदार्थों के भी बोधक हैं। ये अग्नि सोम आदि पदार्थ सब पदार्थ के जनक हैं इसलिए लौकिक जनक-जननी की तरह इन्हें भी पितर कहा जाता है। ऋतुओं

को भी श्रुतियों में 'ऋतवः पितरः' इत्यादि रूप से पितर कहा गया है । स्मृतियों में भी ऋतुओं को पितर कहा गया है—

'षड् ऋतूंश्च नमस्कुर्यात् पितृनेव च धर्मवित् ।'

अर्थात् धर्मज्ञ पुरुष पितृस्वरूप छः ऋतुओं को नमस्कार करे ।

जो मृत्यु के अनन्तर इस लोक से दूसरे लोक में चले जाते हैं वे प्रेत पितर कहलाते हैं । वेदों में इनकी भी खूब चर्चा है । मरणासन्न मनुष्य के प्रति यह मन्त्र बोला जाता है—

संगच्छस्व पितृभिः संयमेन इष्टापूर्तेन परमे व्योमन् ।
हित्वा यावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ।।[१]

इष्टापूर्त कर्मों के फलस्वरूप तुम्हारा दिव्यपितरों के साथ संगम हो, निन्दनीय भाव छोड़ कर तुम परलोक गमन करो । यही इसका संक्षेप में तात्पर्य है । बहुत से लोग कहते हैं कि यह जीवित पिता के प्रति पुत्र की उक्ति है । परन्तु विचार करने पर और मन्त्राक्षरों पर ध्यान देने से यह बात ठीक नहीं बैठती । एक पुत्र अपने जीवित पिता को यह उपदेश दे कि तुम निन्दनीय विचार छोड़ो (अवद्य हित्वा) सर्वथा अनुचित है और जीवित पिता के प्रति यह कहना भी सर्वथा अभद्र और निन्दनीय है कि 'अस्तमेहि तू मर, परलोक गमन कर ।' दूसरा मन्त्र लीजिये—

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्रविद्वान् अनष्टशुर्भुवनस्य गोपाः ।
स त्वैतेभ्यः परिददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्त्रियेभ्यः ।।[२]

यह मन्त्र भी मरणासन्न या मृत पुरुष के समीप पढ़ा जाता है इसका संक्षेप में तात्पर्य यही है कि पूषा तुम्हें यहाँ से ले जावे और अग्नि तुम्हें दिव्यपितरों के प्रति समर्पण कर दे । तीसरा मन्त्र सुनिये—

यद्वोऽग्निरजहादेकमङ्गं पित्र्यलोकं गमयन् जातवेदाः ।
तद्व एतत् पुनराप्याययामि साङ्गाः पितरः स्वर्गे मादयध्वम् ।।[३]

---

१. अथर्ववेद, १८/३/२/५८ ।

२. अथर्ववेद, १८/२/५४ ।

३. अथर्ववेद, १८/४/४/६४ ।

शवदाह के अनन्तर दश दिन तक जो मृतक का श्राद्ध किया जाता है, उसमें यह मन्त्र बोला जाता है । संक्षेप में इसका अर्थ यही है कि पितरों के पास तुम्हें ले जाते हुए अग्नि ने तुम्हारे जो अङ्ग जला दिये हैं मैं उन्हें फिर आप्यायित करता हूँ—पुष्ट करता हूँ, साङ्ग पितर स्वर्ग में आनन्द करें । कहाँ तक उदाहरण दूँ । सैकड़ों मन्त्रों में मृत पुरुष को पितृलोक में गति बताई गई है । कौषीतकि ब्राह्मण में तो स्पष्ट रूप से चन्द्रलोक में मृत पुरुषों की गति बताई गई है—

ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति ।

अर्थात् जो कोई भी इस लोक से प्रयाण करते हैं वे सब चन्द्रलोक में ही जाते हैं । चन्द्रलोक ही वेद, स्मृति, पुराण आदि में पितृलोक माना गया है । भास्कराचार्य ने तो स्पष्ट ही लिखा है—'विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति' अर्थात् चन्द्रमा के ऊर्ध्वभाग में पितरों का निवास है । छान्दोग्य उपनिषद् में देवयान और पितृयान मार्ग का स्पष्ट उल्लेख मिलता है । चन्द्रलोक-गमन पितृयान मार्ग से ही होता है । सजातीय या कर्षण-सिद्धान्त के अनुसार उपपत्ति से भी यह बात सिद्ध हो जाती है । सब वस्तुएँ अपनी सजातीय वस्तुओं से आकृष्ट होती हैं—अपनी ओर खींची जाती हैं । अंग्रेजी में इसे लॉआफ ग्रेविटेशन (गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त) कहते हैं । महाभाष्य में 'स्थानेऽन्तरतम:' सूत्र के विवरण में महर्षि पतञ्जलि ने इसकी चर्चा की है । पाश्चात्य विद्वान् और उनके अनुगामी बहुत से भारतीय विद्वान् भी यह कहते सुने जाते हैं कि आकर्षण सिद्धान्त के स्थापक पाश्चात्य विद्वान् आइजक न्यूटन हैं उनसे पूर्व इस सिद्धान्त को कोई नहीं जानता था । परन्तु बात ऐसी नहीं है । हो सकता है कि पाश्चात्य विद्वानों को यह सिद्धान्त श्रीन्यूटन ने ही बताया हो । न्यूटन से पूर्व पश्चिम देशवासियों को यह सिद्धान्त बिलकुल विदित न हो । परन्तु भारत के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती । क्योंकि आकर्षण सिद्धान्त श्रुतियों में और तदनुगामी शास्त्रों में सर्वत्र उल्लिखित हुआ है । ज्योतिर्विच्छिरोमणि भास्कराचार्य ने सिद्धान्तशिरोमणि के गोलाध्याय में पृथिवी में आकर्षण शक्ति की स्पष्ट चर्चा की है । यह पृथ्वी किस आधार पर स्थित है ? इस प्रश्न के विचार प्रसङ्ग में उन्होंने कई मतों का उल्लेख किया है । बौद्ध कहते हैं कि वह पृथ्वी कहीं टिकी हुई नहीं है । अनन्त आकाश में यह प्रतिक्षण गिरती है । पौराणिकों ने शेष कूर्म वराह

आदि को पृथ्वी का अवलम्ब या आधार बताया है उन्होंने इसको स्वीकार नहीं किया। भास्कराचार्य ने अपना मत बताते हुए लिखा है कि—

आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत्
खस्थं गुरुत्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत् पततीति भाति
समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे॥

इसका तात्पर्य यह है कि पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है। जिस वस्तु को हम भारी होने के कारण आकाश से गिर रही है' यह कहते हैं, वह वस्तु वस्तुतः गिर रही नहीं होती, किन्तु पृथ्वी के द्वारा अपनी ओर खींची जाती है। भूमि का आकर्षक और कोई पिण्डान्तर नहीं है, इसलिए यह अपने चारों ओर विस्तृत आकाश में ही स्थित है यह गिरे तो कहाँ गिरे।

आजकल भी जो उपग्रह अमेरिका और रूस के द्वारा आकाश में भेजे जाते हैं, जब वे पृथ्वी की आकर्षण सीमा से बाहर हो जाते हैं तब वे आकाश में ही चक्कर लगाने लगते हैं जमीन पर नहीं गिरते। आकर्षण सिद्धान्त के विषय में श्रुति भी सुनिये—

अनवरणे इमे भूमी इयञ्चासौ च रोदसी,
किं स्विदत्रान्तराभूतं येनेमे विधृते उभे।
विष्णुना विधृते भूमी इति वत्सस्य वेदना॥

इसका तात्पर्य यही है कि वत्स ऋषि ने अपने अनुभव से इस बात को जाना कि यह भूमि आदित्य के द्वारा घृत है 'दाधर्थ पृथ्वीम् अभितो मयूखैः' इस श्रुति का तात्पर्य भी यही है कि सूर्य अपनी किरणों से (उनके आकर्षण से) इस पृथ्वी को थामे हुए है।

प्रसङ्गवश आकर्षण शक्ति के संबन्ध में हमने थोड़ी सी चर्चा आपके सामने की है, अब हम फिर अपने प्रकृत विषय पर आते हैं। हमने कहा था कि मृत पुरुष पहले चन्द्रलोक में ही जाते हैं—यह बात आकर्षण सिद्धान्त के आधार पर भी सिद्ध की जा सकती है। मृत्यु क्या वस्तु है ? मृत पुरुष का सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को छोड़कर बाहर आ जाता है, यही साधारणतया मृत्यु है। उस सूक्ष्म शरीर में 'मन'

ही प्रधान होता है । 'मन' को सोम प्रधान माना जाता है, मन को श्रुतियों में अन्नमय बताया गया है, अन्न सब सोमप्रधान हैं, चन्द्रमण्डल भी सोममय है, इसलिए सजातीयाकर्षण सिद्धान्त के आधार पर सोममय मन की गति सोममय चन्द्रमा के आकर्षण से उसकी ओर ही होनी चाहिये ।'मनश्चन्द्रे निलीयते' ऐसा कहा भी गया है । इस शरीर में जैसे मन चन्द्र-रस है, इसी प्रकार बुद्धि सूर्य रस है, इसलिए जिस सूक्ष्म शरीर में तप, ब्रह्मचर्य आदि के कारण तैजस और प्रकाश स्वरूप बुद्धि का ही प्राधान्य है उस पर जगत् के प्राणीभूत प्रकाशमय तेजस्वी सूर्य का ही आकर्षण पड़ता है, अत: उसकी गति सूर्य की ओर ही होती है । तमोगुण की जिनमें बहुलता है, जिनकी मन, बुद्धि सब पार्थिवादि तम: प्रधान पदार्थों में ही लिप्त रहते हैं वे पृथ्वी के आकर्षण से पृथ्वी पर ही बार-बार उत्पन्न होते और मरते हैं । इसी को छान्दोग्य में 'जायस्व म्रियस्व' नाम से तृतीय गति कहा गया है । इन तीनों गतियों को प्राप्त होने वाले जीवों की श्राद्ध से तृप्ति होती है यह बात स्मृति ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से कही गई है—

देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः ।
तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति ॥

अर्थात् शुभ कर्मों के प्रभाव से यदि पिता देवत्व को प्राप्त हो गया है तो उसके लिए दिया गया अन्न अमृत बनकर देवयोनि में भी उसे प्राप्त हो जाता है ।

ये जीव स्थूल शरीर छोड़ने के अनन्तर बारह महीनों में चन्द्र लोक पहुँचते हैं । इसलिये वर्ष भर प्रतिमास श्राद्ध करना पड़ता है । दिव्य पितरों के साथ जिनका संगम हुआ है उनका वर्षान्त में सपिण्डीकरण होता है, जिससे वे अपने सपिण्ड पितरों में मिलकर 'पितृ संज्ञा' प्राप्त करते हैं । सपिण्डीकरण से पहले उनकी प्रेत संज्ञा ही रहती है । आजकल विघ्नादि के भय से ११ वें या बाहरवें दिन ही सपिण्डीकरण कर देते हैं । प्रतिवर्ष क्षयाह के दिन श्राद्ध करने का विधान है । श्राद्ध में जो भी प्रक्रिया की जाती है उसकी वैज्ञानिक रीति से उपपत्ति की जा सकती है ।

भारत की प्राचीन सीमा और देवलोक

सम्प्रति देशों की सीमा को लेकर ही एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का शत्रु बना हुआ है। हमारे भारत की सीमा भी आज कुछ और ही हो गई है। प्राचीन वाङ्मय के भारत-विषयक अनुशीलन से पता चलता है कि भारत की पूर्व-पश्चिम सीमाएँ आज से बहुत अधिक विस्तृत थीं। भारत की पूर्वदिशा की सीमा चीनसागर थी, इस सीमा के अनुसार ब्रह्मदेश, जिसे आजकल बर्मा कहा जाता है, तथा स्याम आदि देश भारत के ही अन्तर्गत थे। भारत की पश्चिम सीमा लाल सागर (भूमध्य सागर) तक चली गई थी। इसके अनुसार, वर्तमान पाकिस्तान, बिलोचिस्तान, ईरान, मेसोपोटामिया और अरब भी भारतवर्ष के ही अन्दर आते थे। इस प्रकार पूरब में चीन समुद्र से पश्चिम में लाल सागर तक भारत कहा जाता था। इस विषय के एक नहीं, अनेक प्रमाण हैं। भारत की दक्षिणोत्तर सीमा तो कन्याकुमारी से हिमालय तक प्रसिद्ध ही है। पूर्व-पश्चिम सीमा के संबन्ध में प्रथम प्रमाण मनु का आर्यावर्त-सीमा का निर्देश है—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वाद् आसमुद्रात्तु पश्चीमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥[१]

अर्थात् हिमालय और विन्ध्याचल के मध्य में पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक आर्यावर्त कहा जाता है। यही भारतवर्ष के अन्तर्गत आर्यावर्त की सीमा का निर्देश है। यहाँ पूर्व समुद्र से बङ्गाल की खाड़ी और पश्चिम समुद्र से अरब सागर अभिप्रेत नहीं हो सकते, किन्तु क्रमशः चीनसागर और लालसागर से ही यहाँ तात्पर्य है। भूमण्डल के मानचित्र में हिमाचल और विन्ध्याचल के मध्य भाग से पूर्व और पश्चिम की ओर सीधी लाइन ले जाने पर उक्त दोनों समुद्र ही दोनों सीमाओं में

---

१. मनुस्मृति २/२२।

पहले आएँगे, बङ्गाल की खाड़ी और अरब सागर इस लाइन से दक्षिण भाग में रह जाएँगे। मनु की इस सीमा से भारतवर्ष की पूर्व पश्चिम सीमा का विस्तार स्पष्ट हो जाता है।

व्याकरण महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने भी महाभाष्य में भारतवर्ष की सीमा का निर्देश किया है—'प्राग् आदर्शात्, प्रत्यक् कालकवनात्, दक्षिणेन हिमवन्तम्, उत्तरेण पारियात्रम्। अर्थात् आदर्श से पूर्व, कालकवन से पश्चिम हिमालय से दक्षिण और पारियात्र से उत्तर भारतवर्ष कहलाता है। आदर्श से यहाँ तात्पर्य भूमध्यसागर के उत्तर में स्थित 'तारस' या 'तूरस' पर्वत से है, इसे सिनाई पर्वत भी कहते हैं। यह आदर्श पर्वत (तारस, तूरस, सिनाई) पश्चिम समुद्र और यहूदिया नाम के यवन देश के समीप है। कुछ विद्वान् लोग महाभाष्य के इस आदर्श से सिन्धु नदी के दक्षिण में स्थित सुलेमान पर्वत को लेते हैं। किन्तु यह युक्त नहीं, क्योंकि पश्चिम सीमा में जो यवन देश का और समुद्र का निर्देश किया गया है वह आदर्श शब्द से सुलेमान के ग्रहण करने पर नहीं बनता। 'तारस' या 'तूरस' के साथ आदर्श का कुछ अक्षरसाम्य भी है 'आदर्श' शब्द आदरस दरस तरस बनता हुआ तारस या तूरस बन सकता है। 'मत्स्य' मार्कण्डेय आदि पुराणों मे भारतवर्ष के पूर्व में किरात और पश्चिम में यवनों का होना बताया गया है।

योजनानां सहस्रं वै द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरः।
आयतस्तु कुमारीतो गङ्गायाः प्रवहावधिः॥

द्वीपो ह्युपनिविष्टोऽयं म्लेच्छैरन्तेषु सर्वथा।
यवनाश्च किराताश्च तस्यान्ते पूर्वपश्चिमे।[१]

योजनानां सहस्रं वै द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरः।
पूर्वे किराता यस्यान्ते पश्चिमे यवनास्तथा॥[२]

मत्स्य और मार्कण्डेय पुराण के इन वचनों में जो यवन शब्द आया है, उससे मुसलमान जाति का ग्रहण करना तो भ्रान्तिमात्र है, क्योंकि यह जाति तो हज़रत मुहम्मद के काल में उनका मत स्वीकार करने के कारण बनी है। जिसके जन्म की

१. मत्स्यपुराण ११३/१०-११।
२. मार्कण्डेयपुराण।

यह चौदहवीं शताब्दी है । इसका निर्देश पुराणों में संभव नहीं हो सकता । 'यूनान या 'ग्रीस' भी यहाँ यवन शब्द से अभिप्रेत नहीं हैं। यहाँ तो 'यवन' शब्द से भूमध्यसागर के पार्श्ववर्ती यहूदी जाति के निवासस्थान 'यहूदिया' और 'कौलडिया" आदि प्रदेश ही लिये जा सकते हैं । ये प्रदेश भी 'यवन' शब्द से ही कहे जाते थे । पूरब में किरात बताए गए हैं, उनके सम्बन्ध में ऐतिहासिकों का यही अनुमान है कि वह चीन सागर के पूर्ववर्ती देशों की ही निवासिनी एक जाति थी । इससे भी भारत की पूर्वोक्त सीमा ही सिद्ध होती है ।

मत्स्य पुराण में पृथ्वी को कमल के रूप में चित्रित किया गया है । प्रमाण के लिए उसका एक पद्य सुनियेः—

तच्च पद्मं पुराभूतं पृथिवीरूपमुत्तमम् ।
यत्पद्मं सा रसा देवी पृथिवी परिकथ्यते ।।[१]

मार्कण्डेय पुराण में पृथ्वी का निरूपण कमल के रूप में हुआ है और उसके चार दल बताए गए हैं—

तदेतत् पार्थिवनं पद्मं चतुष्पत्रं मयोदितम् ।
भद्राश्व-भारताद्यानि पत्राण्यस्य चतुर्दिशाम् ।।[२]

अर्थात् यह पृथ्वीरूप पद्म चारपत्रों वाला मैंने बताया, भद्राश्ववर्ष, भारतवर्ष आदि इसके चार दिशाओं के चार पत्र हैं ।

यद्यपि यहाँ पृथ्वीरूप कमल के दो ही दलों का नाम दिया गया है शेषों को 'आद्य' पद से सूचित किया है, किन्तु ब्रह्मपुराण में चारों दलों का नामतः निर्देश मिलता है—

भारताः केतुमालाश्च भद्राश्वाः कुरवस्तथा, ।
पत्राणि लोकपद्मस्य मर्यादा शैलबाह्यतः ।।[३]

---

१. मत्स्यपुराण १६८/३ ।

२. मार्कण्डेयपुराण ।

३. ब्रह्मपुराण १८-४५ ।

अर्थात् पृथ्वीरूपी पद्म के भारत, केतुमाल, भद्राश्व और कुरु ये चार वर्ष चार दल हैं। संक्षेप में तात्पर्य यह है कि किसी समय यह पृथ्वी इन्हीं चार भागों में विभक्त थी। यहाँ 'कुरु' शब्द से उत्तर कुरु अर्थात् सुमेरु प्रान्त का ग्रहण है। ये चारों वर्ष परिमाण की दृष्टि से समान थे। जो कि भूवृत्त (गोलाकार भूमण्डल) के ९०, ९० अंशों में विभक्त थे। इसके ज्ञान के लिए 'सूर्यसिद्धान्त' देखना चाहिये, वहाँ लिखा है—

भूवृत्तपादे पूर्वस्यां यमकोटीति विश्रुता।
भद्राश्ववर्षे नगरी स्वर्णप्रकारतोरणा॥

याम्यायां भारते वर्षे लङ्का तद्वन्महापुरी।
पश्चिमे केतुमालाख्ये रोमकाख्या प्रकीर्तिता॥

उदक् सिद्धपुरी नाम कुरुवर्षे प्रकीर्तिता।
भूवृत्तपादविवरास्ताश्चान्योऽन्यं प्रतिष्ठिताः॥

तासामुपरिगो याति विषुवस्थो दिवाकरः।
न तासु विषुवच्छाया नाक्षस्योन्नतिरिष्यते॥[१]

अर्थात्—इस भूवृत्त के पूर्व में भद्रावर्ष है, दक्षिण में भारत वर्ष है, पश्चिम में केतुमाल वर्ष है, और उत्तर में कुरुवर्ष है। लङ्का और सुमेरु का स्पर्श करती हुई जो रेखा है उसको-भारतवर्ष की मध्य रेखा कहा गया है। उस रेखा के पूर्वपश्चिम की ओर ४५, ४५ अंश तक भारतवर्ष है। भारतवर्ष से ९० अंश पूर्व में भद्राश्ववर्ष है, भद्राश्व से ९० अंश उत्तर की ओर कुरुवर्ष है, कुरुवर्ष से पश्चिम की ओर नब्बे अंश तक 'केतुमाल' वर्ष है।

यल्लङ्कोज्जयिनीपुरोपरि कुरुक्षेत्रादिदेशान् स्पृशत्,
सूत्रं मेरुगतं बुधैर्निगदिता सा मध्यरेखा भुवः।

इत्यादि वचनों के अनुसार मेरु से लङ्का, उज्जैन और कुरु क्षेत्रादि का स्पर्श करती हुई जो रेखा है उसी को भारत वर्षीय मध्यरेखा कहा गया है। उज्जैन नगर २३/९ उत्तर अक्षांश पर स्थित है। पाश्चात्य लोग ग्रीनविच मध्यरेखा से देशान्तर

१. सूर्यसिद्धान्त भूगोलाध्याय।

की गणना किया करते हैं । उज्जैन नगर के ऊपर होकर गई हुई भारतीय मध्यरेखा और ग्रीनविच मध्यरेखा में ७५/४३ अंशों का अन्तर है । इस प्रकार भूमध्यरेखा पर स्थित उज्जैन से ४५ अंश पश्चिम तक भारत की पश्चिम सीमा सिद्ध होती है और इस प्रकार वह प्रदेश भूमध्यसागर के समीप ही ठहरता है ।

भारतवर्ष के नौ उपद्वीप पुराणों में प्रसिद्ध हैं—इन्द्रद्वीप, नागद्वीप, सौम्यद्वीप, गान्धर्वद्वीप, वारुणद्वीप, कशेरुमान्, गभस्तिमान्, ताम्रपर्ण—सिंहल, और कुमारिका । इन उपद्वीपों को वर्तमान में क्रमश: इन नामों से कहा जाता है:—अण्डमान, नीकोबार, यवद्वीप, फिलिपाइन द्वीप संघ, बोर्निया, कसेरु, मलूका सीलोन, और कुमारी । इन सब उपद्वीपों का पुराणों में विस्तार से वर्णन हुआ है । जब इतने दूर के देश उपद्वीप माने गये तब अवश्य ही भारत वर्ष का बहुत विस्तृत होना सिद्ध होता है । क्योंकि सीमा के समीपवाले मिले हुए देश ही तो उपद्वीप कहलाते हैं ।

ऋग्वेद में दशम मण्डल के ८६ वें सूक्त से प्रारम्भ कर आगे के सूक्तों में एक वाक्-कलह का संकेत प्राप्त होता है । ऋज्राश्व ऋषि का दौहित्र जरथुस्त्र नाम का एक व्यक्ति था । वह स्वभावत: उस काल के ब्राह्मणों के प्रति द्वेष रखता था । ब्राह्मण-द्वेष के कारण ही उसने ब्राह्मी लिपि के विरुद्ध उल्टी लिखी जाने वाली खरोष्ट्री लिपि का प्रचार किया । उसी के समय वाह्लीक देश में कुछ ऋषियों के बीच एक विचार संघर्ष और वाग्युद्ध उठ खड़ा हुआ । सौत्रामणि इष्टि (यज्ञ) में ऋषियों में यह विवाद छिड़ गया । कि इन्द्र और वरुण में किसको प्रधान देवता माना जाय । जरथुस्त्र ने परम्परा से चले आते हुए इन्द्र के प्राधान्य को एकदम अस्वीकृत कर दिया और उसके स्थान पर वरुण के प्राधान्य को सुप्रतिष्ठित किया । इसका संकेत 'नेन्द्रं देवममंसत' इस मन्त्रांश में पाया जाता है । उपस्थित ऋषियों में नृमधा, हिरण्यस्तूप, वामदेव, गार्ग्य आदि ने इन्द्र का पक्ष लिया, और सुपर्ण, काण्व, भरद्वाज आदि ने वरुण को ऊपर चढ़ाया । वसिष्ठ तथा कुरु अन्य ऋषियों ने अपने-अपने स्थान पर दोनों का महत्त्व स्वीकार किया । इस संबन्ध में भिन्न-भिन्न ऋषियों के भिन्न-भिन्न विचारों को प्रकट करने वाले सूक्त उसी प्रकरण में देखे जा सकते हैं । इन्द्राणी के क्रोध को प्रकट करने वाले, इन्द्र और अन्य ऋषियों ने इन्द्राणी के प्रति सान्त्वना के मन्त्र भी वहाँ दिये गये हैं । यह विरोध बहुत अधिक बढ़ गया था । आखिर मनुष्यावतारधारी ब्रह्मा ने, जो असाधारण विद्वान् होने के अतिरिक्त

महाप्रभावशाली और अतितेजस्वी थे, भारतवर्ष के दो विभाग कर दिये। सिन्धुनदी से पश्चिम का भाग वरुण को प्रधान मानने वालों को दिया, और पूर्व का भाग इन्द्र को प्रधानता देने वालों को दिया। इस घटना से भी भारतीय सीमा के अति विस्तृत होने का समर्थन होता है। क्योंकि इससे सिद्ध हो जाता है कि सिन्धुनदी भारत के मध्य में है, न कि पश्चिम सीमा पर। सिन्धु को मध्य में मानने पर जितना प्रदेश सिन्धु के पूर्व में है, उतना ही पश्चिम में मानना पड़ेगा और वह भाग भूमध्य सागर तक ही पहुँचेगा।

विभाग होने के अनन्तर ही सिन्धु के पार वाले लोग पूर्वीय तट वालों को 'सिन्धुस्थानीय' कहने लगे। इसी शब्द का भाषा विज्ञान के आधार पर परिवर्तित रूप है 'हिन्दुस्तानी'। इसी प्रकार पूर्वीय तट वाले लोग सिन्धु के पार रहने वालों को पारस्थानीय' कहने लगे, जो बिगड़ कर आज 'पारसी' बन गया है। इस प्रकार प्राचीन वाङ्मय में प्रयुक्त सिन्धुस्थान और पारस्थान शब्द आपेक्षिक हैं और भारत की पश्चिमी सीमा के अतिविस्तृत होने का संकेत देते हैं।

इसी प्रकार भारत के पूर्वीयभाग के लिए 'आर्यावर्त' और पश्चिमी भाग के लिए 'आर्यायण' ये दो संज्ञाएँ प्रसिद्ध हुई। 'आवर्त और 'अयन' शब्द का एक ही तात्पर्य है। 'आर्यायण' शब्द ही कालचक्र के थपेड़े खाता हुआ आज ईरान बन गया है। ये दो संज्ञाएँ दोनों भागों में आर्यों की स्थिति और उनकी प्रधानता का संकेत करती हैं और साथ ही भारत के सीमाविस्तार को पुष्ट करती हैं।

लाल सागर से पूर्व और सिन्धु नदी से पश्चिम कास्पियन सागर के दक्षिण भाग के पुराने लोग ईरान के लिए (Oriens) शब्द का प्रयोग करते थे। ओरियन्स शब्द का अर्थ आर्यवंश प्रतीत होता है। यह भी अनुमान है कि ब्राह्मण-विरोधी जरथुस्त्र के अनुयायी लोग विपरीत-गामी होने के कारण 'वामग' कहलाए उसी का 'वा' टूट कर 'मग' जाति प्रसिद्ध हुई और प्राचीन आर्यो के विरोधी होने के कारण उन्हें आर्यो का बाधक 'आर्यस्पर्श' कहा गया। उनका देश भी आर्यस्पर्श कहलाया। वही आर्यस्पर्श शब्द बिगड़ कर पहले आर्यस्प' बना पीछे धीरे-धीरे 'ओरियन्स' रूप में परिणत हो गया। जो भी हो, 'ओरियन्स' देश आर्यो का निकेतन

सिद्ध होता है, और यह भी सिद्ध होता है कि पश्चिम विभाग में सुदूर भूमध्यसागर तक आर्यों का निवास था।

एरियाना शब्द जो कि पश्चिम देशों के लिए प्रयुक्त है वह भी आर्यनिवास-मूलक सा है। इण्डिया और वामनिया शब्द भी वहाँ आर्यनिवास मूलक ही प्रतीत होते हैं।

वर्तमान में और निकट अतीत में प्रयुक्त कतिपय संज्ञा शब्द भी भारतवर्ष की इस विस्तृत सीमा को सिद्ध करने में सहायक होते हैं। इन शब्दों में एक 'खुरासान' शब्द भी है। पश्चिमी भाग का राजा वरुण था, वसिष्ठ ऋषि उनके बड़े मित्र थे। पुराणों में एक कथा प्रसिद्ध है कि कान्यकुब्ज का राजा विश्वामित्र किसी समय वसिष्ठ के पास रहने वाली कामधेनु-सुता नन्दिनी को हरण करने के लिए प्रवृत्त हुआ। उस नन्दिनी की इच्छा विश्वामित्र के साथ जाने की नहीं थी। जब विश्वामित्र ने जबर्दस्ती उसे ले जाने का हठ किया तो नन्दिनी ने क्रोधवश उस स्थान को अपने खुरों से खोद डाला। बलात्कार से नन्दिनी के इस अपहरण को श्रीवसिष्ठ ऋषि भी नहीं सह सके और उन्होंने वरुण से सहायता के लिए कहा। वरुण ने पह्लव, पारद, यवन, शक और कम्बोजों को गौ की रक्षा के लिए भेजा। इन सबने विश्वामित्र को पराजित कर दिया और नन्दिनी की रक्षा की। नन्दिनी के खुरों से खरोदने के कारण उस प्रदेश के निवासियों के नाम खुरध, खुरद, तथा कुर्द हुए, और इनके जनपद संघों के नाम खुर्द स्थान और खुरासान हुए। यह 'खुरासान' शब्द, जिसका प्रयोग अकबर आदि मुगल बादशाहों ने किया है, सिन्धुनदी के पश्चिमी भाग को ('ईरान' आदि को) भारत सिद्ध करने के लिए प्रमाण रूप में उपस्थित किया जा सकता है 'ईरान' शब्द भी 'आर्यायण' शब्द से ही बना है और आर्यों के वहाँ निवास का सूचक है।

अब यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब सिन्धु के पश्चिम में लाल सागर तक के भारतीय प्रदेशों की, ईरान, फारस, खुरासान आदि संज्ञाएँ दिखाई गई हैं, तब बहुत समय से ये नाम विशेष भूभाग या विशेष देशों के वाचक कैसे हुए? आज ईरान, खुरासान और फारस आदि शब्द लालसागर तक के प्रदेश के वाचक नहीं, अपितु संकुचित देशविशेषों के ही वाचक है।

इसका समाधान यह है कि जिस प्रकार इन्द्रप्रस्थ, द्वारका और लंका नाम के प्रदेश प्राचीन काल में आज की अपेक्षा बहुत विस्तृत थे, किन्तु कालक्रम से विभिन्न राजाओं के अधिकार में सीमाओं का संकोच और विस्तार होते रहने से आज इनका यह छोटा सीमित स्वरूप रह गया है । ठीक यही बात इन पश्चिमी प्रदेशों की संज्ञाओं पर भी घटित होती है । विभिन्न समयों में पश्चिमी प्रदेशों की राजनीतिक उथल-पुथल के कारण अनेक राज्य वहाँ बने और बिगड़े । समय-समय पर शासकों ने अपनी सीमाओं के निर्धारण में संकुचित प्रदेश के लिए इन संज्ञाओं को रूढ़ कर दिया, परन्तु प्रारम्भ में जब ये संज्ञाएँ प्रचलित हुई थीं तब विस्तृत प्रदेश की ही वाचक थीं ।

पुराण आदि में पश्चिम प्रान्त के मऊ और केकय देश बहुत प्रसिद्ध हैं । ये बहुत बड़े प्रान्त थे । वाह्लीक देश भी पश्चिम का बहुत बड़ा प्रान्त था, जिसके प्रभावशाली राजा भूरिश्रवा आदि महाभारत के प्रसिद्ध योद्धा थे । बाल्हीक' प्रान्त में ही शाकद्वीप नाम से प्रसिद्ध एक स्थान था । वहाँ के क्षत्रिय "शक" कहलाते थे, और जो ब्राह्मण उस प्रान्त से आकर बिहार प्रान्त में बस गये हैं वे आज भी "शाकद्वीपी" नाम से ही कहे जाते हैं । आज कल उस देश को "स्कीथिया" या "स्कीदिया" कहा जाता है । इस प्रकार के अनेक संज्ञा शब्द हैं जो उस देश को संस्कृतज्ञ आर्यों का निवास सिद्ध कर रहे हैं ।

विद्यावाचस्पति श्री ओझा जी ने अपने 'इन्द्रविजय' नामक ग्रन्थ के 'सीमप्रसङ्ग' प्रकरण में इन प्रमाणों के अतिरिक्त और भी बहुत से प्रमाणों को प्रस्तुत कर यह सिद्ध कर दिया है कि भारतवर्ष पहले बहुत विस्तृत था किन्तु राज्यक्रान्तियों के कारण आज इसकी सीमा कुछ और ही हो गई है, और यह देश अति संकुचित हो गया है ।

प्राचीन काल में इस भूमि पर भी देवलोक था । जिसका निरूपण श्री ओझा जी ने उक्त ग्रन्थ के 'त्रैलोक्यप्रसङ्ग' प्रकरण में किया है । 'स्वर्गसंदेश' नाम के उनके दूसरे ग्रन्थ में भी इस भौमस्वर्ग अथवा भौमदेवलोक की विस्तार से चर्चा हुई है । उसका संक्षेप में सार यही है कि हमारे शास्त्रों में तीन प्रकार की त्रिलोकी मानी गई है । दिव्य त्रिलोकी, शारीरत्रिलोकी और भौमत्रिलोकी । उन सबका विवरण तो आज

के व्याख्यान में नहीं किया जा सकता, हाँ, भौमत्रिलोकी के सम्बन्ध में संक्षेप से आप के समक्ष कुछ कहना चाहता हूँ। भौमत्रिलोकी का विभाग इस प्रकार है—दक्षिण समुद्र से हिमालय तक पृथ्वी लोक यानी मनुष्य लोक है। अल्लाई पर्वत से उत्तर समुद्र तक स्वर्ग या देवलोक है। हिमालय और अल्लाई—इन दोनों पर्वतों के बीच का भाग अन्तरिक्ष है अर्थात् यक्ष किन्नर आदि देवयोनि विशेषों का निवास स्थान है।

इनके भी अधिपति क्रमशः अग्नि, वायु और इन्द्र नाम से प्रसिद्ध थे। इस त्रिलोकी को आज कल 'एशिया' कहा जाता है। वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक युक्तियों से विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन जी ने यह सिद्ध किया है कि उत्तर समुद्र प्रान्त पहले इस प्रकार हिम से आच्छन्न नहीं था, वहाँ भी निवास-देश थे, और उस प्रदेश के निवासी देव शब्द से व्यवहृत होते थे तथा इनके विरोधी असुर राक्षस आदि शब्दों से कहे जाते थे। जिनके संग्रामों का विस्तृत वर्णन वेदों तथा पुराणों में मिलता है एवं भारतीय राजा दशरथ, दुष्यन्त, अर्जुन आदि उस स्वर्गलोक में जाकर जिन देवों के सहायक बने, या जिनके पास उन्होंने अध्ययन किया और जिनके सत्कार पाये, वे देव इसी उत्तरखण्ड के निवासी थे। आज भी उन प्रान्तों के पुराने चिह्न मिलते हैं। जिनका विवरण भी उन्होंने किया है। और सप्रमाण सिद्ध किया है कि स्वर्ग दो प्रकार का है—एक सूर्यमण्डल रूप द्युलोक स्वर्ग और दूसरा यह भौम स्वर्ग। इन दोनों में देवता भी दो प्रकार के रहते हैं। सूर्यमण्डल में प्राणरूप देवता हैं, जो कि अमर हैं। इस प्राणरूप देवता का निरूपण वैदिक ऋषि और देव इस प्रवचन में पहले हमने कर दिया है दूसरे भूस्वर्ग के निवासी देवता मनुष्य विशेष ही थे। हमारी आयु की अपेक्षा उनकी आयु अधिक होती थी, पर थे वे मनुष्य शरीरधारी ही। उनसे भारतीय लोगों का साक्षात् सम्बन्ध था। आज वह लोक अनार्य जातियों का देश बन गया है। देव लोक तो महाभारत युद्ध के अनन्तर नष्ट हो गया था, अतः आज उसका दर्शन नहीं होता।

इस प्रकार वेदों तथा पुराणों के ऐतिहासिक और भौगोलिक अनुसन्धान के द्वारा श्रीविद्यावाचस्पति जी ने "भारत की प्राचीन सीमा और देव लोक" के विषय में तथा अन्य वैज्ञानिक विषयों में जिन महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है, वे मनीषियों के मनन योग्य हैं।

वेद और धर्म

आर्यों की आज भी वेद और धर्म पर अगाध श्रद्धा है। "वेदाः प्रमाणम्" से वेदों की सर्वश्रेष्ठता की घोषणा हुई, फिर कहा गया "वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ" अर्थात् वेद से धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। तब कहा गया-"धर्मेण पापमपनुदति"-धर्म से पाप मिटाया जाता है। "धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्" सभी कुछ धर्म में प्रतिष्ठित है का उद्घोष है। "तस्मात् धर्मं परमं वदन्ति", इसलिए धर्म को श्रेष्ठ कहा जाता है। फिर कहा गया "धर्मो रक्षति रक्षितः" रक्षित धर्म रक्षक होता है। फिर घोषणा है-"न लङ्घनीयाः कुलदेशधर्माः" कुल धर्म और देश धर्म का तिरस्कार नहीं करना चाहिए।

वेद प्रतिपादित धर्म संसार के अन्य धर्मों की तरह, उसी श्रेणी में गिने जाने योग्य धर्म नहीं है। स्पष्ट अन्तर यहीं जड़ में ही समझ लेने से वेद और धर्म दोनों के गम्भीर स्वरूप को समझने में सहायता मिलेगी।

विभिन्न धर्म

संसार के अन्य धर्म राजनीति और समाज नीति का ही केवल निर्वाह करने वाले, समाज का जीवन उचित रीति से चलता रहे इसी पर अपना लक्ष्य स्थिर करने वाले, स्वार्थ में लगे, केवल अपनी लौकिक उन्नति को साधने में लगे लोगों के द्वारा कल्पित होने के कारण वे वास्तविक धर्म के एक अंशमात्र हो सकते हैं। बहुत जरूरी है इस तर्क बिन्दु को साफ तौर से समझना। दुनियाँ में ईसाई धर्म है, इस्लाम धर्म है, हिन्दू धर्म है, जैन, बौद्ध, सिख, पारसी आदि-आदि अनेकानेक धर्म हैं। उन सभी धर्मों की शुरुआत किसने की, कौन है जिसने ईसाई धर्म की शुरुआत की। उत्तर स्पष्ट है, ईसामसीह ने की। इस्लाम धर्म की शुरुआत हज़रत मुहम्मद साहब ने की। सभी धर्मों की शुरुआत करने वाले महापुरुषों को इतिहास ने सुरक्षित रखा है अपने सीमित ढांचे में। ये सभी धर्म प्रवर्तक अपने आस पास तथा दूरदराज के

सभी मानवों के दुर्लभ जन्म की सफलता के लिए उन्हें समझाते थे कि सारी दुनियाँ अपने जीवन की सफलता के ठीक विपरीत दिशा में दौड़ी जा रही है । यह सब समझाते हुए उन्होंने लक्ष्य की ओर ले जाने वाले, सारे जीवन में अपनाये जाने योग्य कर्म विधान बनाये, उनका जिस धर्म में प्रवर्तन हुआ वह ईसाई धर्म हुआ । यही स्थिति अन्य धर्म प्रवर्तनों में भी है । इन धर्म प्रवर्तनों के मूल में यही होता है कि धर्म प्रवर्तक को अपनी वर्तमान स्थिति से सन्तोष नहीं होता और वह उससे अधिक आनन्द दायिनी स्थिति की सम्प्राप्ति के हेतु तपस्या करता है, कष्ट झेलता है मरणान्त कष्ट झेल जाता है, जैसा स्वयं यीशु क्राइस्ट के साथ हुआ । यह सत्य की प्राप्ति के लिए आत्माहुति । यह कोई ईश्वर के ऊपर अहसान वाली बात नहीं है कि मैं तुम्हारे लिए मरा तुम मेरे अहसानमन्द हुए । नहीं, यह तो उस मरने को अपनी परम सौभाग्यता मान रहा है कि हे ईश्वर परम कृपा करके तूने मुझे यह अवसर दिया कि मैं तेरे लिए मर रहा हूँ और दुनियाँ की नजर में मृत होने पर भी क्राइस्ट तो अमर हैं । उनके अनुयायीगण उनकी भक्ति में लीन होकर उनके भावनात्मक दर्शन प्राप्त कर आज भी कृत कृत्य हैं । यही स्थिति हज़रत मुहम्मद साहब की है । उन्हें गहन तपस्या के माध्यम से शाश्वत ईश्वर के उपदेशों को देखा । उन्होंने अपने अनुभव को संसार के उपकार के लिए फैलाने के उद्देश्य से केवल अल्लाताला की शरण लेने का आदेश दिया और अपने अनुयायियों के दैनिक परिपालन के लिए एक क्रिया पद्धति निर्दिष्ट की जिसका प्रचलन एक बड़े समुदाय में हुआ । आज विश्व में सर्वाधिक मुसलमान हैं जो हज़रत मुहम्मद साहब की हाज़िरी में आज भी अपने को धन्य मान रहे हैं ।

बौद्ध धर्म, जैन धर्म, यहूदी धर्म, पारसी धर्म आदि कुछ ही नाम हैं । सारे विश्व में छोटे बड़े समाजों में बटे स्थानीय चमत्कारी महापुरुषों के द्वारा अपने अनुयायी गणों में परिचालित विशिष्ट क्रिया कलापो में बधे धर्मों की संख्या हजारों लाखों में है ।

देखना यह है कि यह समस्त धर्म अपने अनुयायी गणों के माध्यम से समझ में आ रहे है । ईसाई और मुसलमान धर्मों के अनुयायी गणों ने विकट युद्ध किये । बहुत हत्या का ताण्डव संसार में इन धर्मों के उन्मादों ने मचाया, जिनके विवरण

इतिहास में सुरक्षित हैं । मूलत: यह सारे धर्म एक निश्चित समाज व्यवस्था, जीवन पद्धति और शासन नीति या राजनीति पर जाकर अटके रहे ।

इन धर्मों के साथ जब भारत के आर्य धर्म का आलोड़न किया जाता है तो पहली बात यह प्रकट होती है कि आर्य धर्म प्रवर्तक कोई नहीं मिलता । जितने नाम धर्म, विज्ञान, विद्या या इतिहास में मिलेंगे वे आर्य धर्म की किसी अस्पष्ट बात को समझाने के लिए ही मिलेंगे । कोई अपने को इस धर्म का प्रवर्तक कहने को तैयार नहीं है । समस्त जगत की सृष्टि के साधन में लगे हुए भगवान् परमेश्वर के समस्त संसार की उत्पत्ति स्थिति और लय साधन के रूप में एक विशेष पदार्थ के रूप में यह आर्य धर्म निर्धारित है । ईश्वर की आज्ञा से प्रचलित परिचालित होने के कारण यह आर्य धर्म सम्राट धर्म है । यही कारण है कि इस आर्य धर्म की बहुत शाखाएं बहुत रूप हैं और यह अत्यन्त गहन गम्भीर है ।

आर्योत्तर धर्म पल्लवित नहीं है, उनके रूप भी संकुचित हैं उस धर्म के अवलम्बन करने की आसानी के कारण उसके बहुत से अनुयायी हो जाते हैं ।

आर्य धर्म

इसके विपरीत आर्य धर्म में सहसा धर्म से भिन्न का प्रवेश सम्भव नहीं है । उसमें देश काल पात्र के अनुरोध से अधिकारी का आकलन करने के उपरान्त ही प्रवेश मिलता है । यही कारण है कि आर्य धर्म सब से श्रेष्ठ है और आर्यों की इसलिए इस धर्म पर अडिग आस्था है । आर्य धर्म की श्रेष्ठता को बतलाने के कारण वेद भी सर्वाधिक गौरव से परिपूर्ण है ।

यहाँ यह स्वाभाविक प्रश्न होता है कि यह आर्य धर्म ईश्वर की आज्ञा से सिद्ध है यह बात कैसे मानी जाय तथा यह भी कैसे मान लिया जाय कि आर्य धर्म प्राकृतिक धर्मों का नियामक है, इन प्रश्नों का उत्तर जानने के लिए वेद और धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है यह बतलाना आवश्यक हो जाने से पहले इन्हीं का तात्त्विक रहस्य समझना आवश्यक है ।

ज्ञान और क्रिया

संसार में ईश्वर ने अनन्त शक्तियों को उत्पन्न किया है। इन सभी शक्तियों में ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति ये ही दो मुख्य हैं। इन दो शक्तियों में ही समस्त शक्तियाँ समा जाती हैं। इन दोनों में से ज्ञान शक्ति का सम्बन्ध वेद से है और क्रिया शक्ति का सम्बन्ध धर्म से है। इन दोनों मे भी क्रिया शक्ति की अपेक्षा ज्ञान शक्ति ही सर्वप्रधान होती है। जहाँ ज्ञान शक्ति है ही नहीं, जो जड़ के समान है, उनमें क्रिया शक्ति रहने पर भी ज्ञान शक्ति से सम्पन्न मनुष्य आदि प्राणियों के द्वारा उनका यथेच्छ कार्यों में समायोजन होने के कारण वे ज्ञान शक्ति सम्पन्न व्यक्तियों के उपभोग में आने योग्य, यश तथा उपभोग्य रूप से काम में ली जाती हैं। इसीलिए क्रिया शक्ति की उपेक्षा रखने वाले आर्य धर्म के प्रति ज्ञान शक्ति प्रधान वेद का पूर्ण अधिकार सिद्ध होता है।

कहा गया है कि-

"धर्म को जानने की इच्छा रखने वालों के लिए परम प्रमाण वेद ही है।"

"विद्वान् के लिए यह उचित है कि वह वेदों को देखकर अपने धर्म के आचरण में लगे।"

"धर्म वही है जो वेद को प्रमाण और हितसम्पादक बनाता है, इसके विपरीत सभी कुछ अधर्म ही है।"

इन मनु तथा भागवतादि ग्रन्थ कथनों से इसी बात का समर्थन किया गया है। इसीलिए धर्म के स्वरूप को निर्दिष्ट करने से पहले वेद का स्वरूप बताया जाता है।

क्षोभ

वेद ज्ञान शक्ति के स्वरूप की अपेक्षा रखता है। अत: ज्ञान शक्ति क्या है? यह बतलाया जा रहा है। उपनिषद के निष्कर्ष कथन के रूप में सारा संसार मूल में ज्ञान शक्ति ही है। जहाँ कहीं हम अपनी दृष्टि डालते हैं वहां 'यह है' ऐसा अनुभव होने के साथ सत्ता का स्फुरण होता है। पहले क्षण में जैसा देखा, आगे के क्षणों में वैसा नहीं, उससे विलक्षण देखा, इसीलिए यह नदी के प्रवाह की तरह

दृश्य,प्रतिक्षण विलक्षण भासित हुआ। यहाँ 'क्षोभ' है। क्षोभ एक पदार्थ सिद्ध हुआ। सत्ता क्षोभ रूप नहीं अपितु क्षोभ के प्रतिकूल अपना स्वरूप बताने वाली है। सत्ता और 'क्षोभ' दो अलग-अलग हैं। जहां से सत्ता आ रही है वह ज्ञान शक्ति है, जहां से क्षोभ आ रहा है वह क्रिया शक्ति है। 'है' यह सत्ता का प्रतीक है, 'हो रहा है' यह क्रिया का प्रतीक है। दोनों के समुच्चय होने पर सत्ता और क्षोभ का एकत्रीकरण, मिश्रण होते ही एक-एक वस्तु सिद्ध होने लगती है। वस्तु में प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है, यह 'क्षोभ' है। चिरकाल तक 'एक ही वस्तु'ऐसा अनुभव सत्ता का अनुवर्तन करा रहा है। क्यों होती है एक ही वस्तु में अनेक अवस्थाओं की प्रतीतिकरण है प्रत्येक क्षण में अनेक प्रकार 'असद्' या 'क्षोभ' का उस वस्तु के साथ होते जाना। 'सत्ता',क्षोभरूपा नहीं है इसीलिए, ज्ञानशक्ति नित्य है, एक है, सत् है और क्षोभ सत्ता रूप नहीं है इसीलिए उसको आधार बनाने वाली क्रिया शक्ति अनित्य है, अनेक है और असत् है। सम्पूर्ण अनुभव का आकलन करने पर ज्ञानशक्ति 'सत्'(है) सिद्ध होगी तथा क्रिया शक्ति 'असत्' (नहीं है) सिद्ध होगी। अब जब क्रिया शक्ति नहीं है, तब एक-एक अद्वितीय ब्रह्म ही अन्तिम सत्य होगा, सब कुछ दृश्यमान ब्रह्म ही कहलायेगा, यहाँ कहीं तत्त्वतः अनेकता रह ही नहीं जायेगी, है ही नहीं अनेकता कहीं। अनेकता तो क्षोभ है, वही क्रिया शक्ति है, इसीलिए निष्कर्ष प्राप्त होता है 'ज्ञान शक्ति है', 'क्रिया शक्ति नहीं है।'

ज्ञान और क्रिया

अब तो प्रश्न यह उपस्थित हो गया कि क्रिया शक्ति तो 'नहीं है' तो यह क्षोभ कहां से आया। आप तो कह देंगे कि क्षोभ भी नहीं है, तब तो दिखाई देने वाला सारा जगत् विपक्ष में दिखाई देगा। यह एक पागल का प्रलाप सिद्ध हो जायेगा यदि जो कुछ दिखाई दे रहा है उसके लिए कहा जायेगा कि 'यह सब नहीं है'। यहां उत्तर में कहा जायेगा कि प्रश्न करने वाले महाशय का प्रश्न भ्रम मूलक है। हमने यह नहीं कहा कि 'क्रिया शक्ति है ही नहीं' या 'क्षोभ नहीं है' या अनेकत्व की (ज्ञानात्व) प्रतीति नहीं है या जगत् नहीं है, इसके विपरीत हम यह निश्चयपूर्वक मानते हैं कि क्रिया शक्ति है, क्षोभ है, अनेकत्व है, जगत् है।

अब यहाँ रहस्य के गर्त से निकालने योग्य जो बात है वह बड़े ध्यान से समझ लेनी होगी, जिसके न समझने की वज़ह से कदम-कदम पर प्रश्न उपस्थित होना और अनेक समाधान ढूंढ़कर निकालने या उन प्रश्नों को असमाधेय समझकर उन सिद्धांतों को छोड़ बैठने जैसी दुर्घटनाएं भी घटित होती हैं।

पहले कहा गया कि ज्ञान शक्ति है, इसलिए क्रिया शक्ति है। ज्ञान शक्ति है सत्ता स्वरूपा, वह एक है, नित्य है, सीमाहीन या निस्सीम है, सर्वव्यापक है। जो नानात्व या अनेकत्व और अनित्यता आदि है इनका सम्बन्ध क्षोभ से है। अब इसके बाद जो कुछ क्षुब्ध के रूप वाला संसार या स्वयं क्षोभ से है। उस सबमें यह सत्तारूप भाव विद्यमान समझना होगा। अब स्थिति यह बनी कि क्रिया शक्ति के क्षोभ के सम्पर्क से जैसे एकमात्र ज्ञान शक्ति अनेक रूपों में प्रतीत होती है, उसी प्रकार ज्ञान शक्ति के सत्ता स्वरूप से संयुक्त होकर क्रिया शक्ति जो असत् या असती है वह सत्ता के रूप में सामने आती है। सत्ता या अस्तित्व एक ही है, वह एकत्र मुख्य है और दूसरी जगह संक्रमित है। ज्ञान रूपी शक्ति में क्रिया रूपी शक्ति का समवाय हो जाने के कारण एक के बिना दूसरे के न रह पाने की स्थिति में एक ही सत्ता या अस्तित्व से दोनों का अस्तित्व व्यवहार में आ जाता है।

उदाहरण

उदाहरण में देखिए, बात या सिद्धान्त स्पष्ट होते हैं उदाहरण में। अधंकार में रस्सी यदि दिखाई दे तो यह 'सर्प है' ऐसा भ्रम या वेदान्त के ठेठ शब्द में "अध्यास"भी नहीं सर्प का। यह मिथ्या ज्ञान देखने वाले को होने का कारण यह है कि सत्ता या अस्तित्व में तो वहां "रस्सी" है, उस रस्सी के अस्तित्व को हटा दिया गया और उस पर सर्प का अस्तित्व वहां आ गया या शास्त्रीय शब्दों में रज्जु का अपोहन और सर्प का अध्यारोप हो गया, यह मिथ्या ज्ञान की उत्पत्ति का क्रम है। यह सत्ता का संक्रमण, रज्जु की सत्ता का सर्प की सत्ता में चले जाना प्रातिभासिक है, काल्पनिक है, मिथ्या है। परन्तु यह सत्ता का संक्रमण आगे के अनेक कार्यों को जन्म देता है। दूसरा उदारहण लें। रूई की सत्ता से धागे सत्ता में आये या धागे सत्तावान् बने, धागों की सत्ता से वस्त्र सत्तावान् बना, वस्त्र की सत्ता से कुर्ता, धोती आदि अनेक कपड़ों के आकार सत्ता में आये। देखा हमने कि सत्ता एक ही है वही

अपने आगे होने वालों की सत्ता में संक्रमण करती जाती है । एक सत्ता के अन्यत्र संक्रमण के माध्यम में 'क्षोभ' तत्त्व प्रकट होता है । इसका दूसरा शब्द है 'अवस्था' । ये क्षोभ या अवस्थाएं वहां यथाक्रम उपस्थित होती हैं । वहां रूई, धागे, कपड़े आदि से सत्ता या अस्तित्व अलग-अलग नहीं है । यदि इनमें सत्ता या अस्तित्व को स्वतन्त्र माना जायेगा तो यदि धागे नहीं है तब भी वस्त्र होगा । उसकी सत्ता अलग होगी । परन्तु धागे की ही सत्ता वस्त्र में गई है इसलिए धागे के न रहने पर वस्त्र भी नहीं होगा । परन्तु जब वस्त्र नहीं तब भी धागे है, इसीलिए 'हे पन' 'सत्ता' या अस्तित्व मुख्य रूप से धागे में है और वस्त्र में उसका संक्रमण या गमन या गति हुई है । सत्ता के संक्रमण का यह व्यवहार में आने वाला उदाहरण है ।

सत्ता संक्रमण

सत्ता का जो संक्रमण व्यवहार से अतीत अवस्था में, वैचारिक कार्य कारण जगत् में होता है, वह चार रूपों में निरूपित हुआ है-हंस है, तो उस हंस की क्रिया भी है, वह स्वयं भूत आन्तरिक प्राण क्रिया है, यह सत्ता का पारमार्थिक विश्व में प्रथम संक्रमण है । रथ में घोड़ा है, अत: रथ के उस घोड़े की क्रिया भी है । यह प्रेरित आन्तरिक प्राण क्रिया है । (ड्राइवर है, इसलिए कार ड्राइव करने की क्रिया भी है, यह प्रेरित आन्तरिक प्राण क्रिया है) गोली है बन्दूक या पिस्तौल में, या बाण है, अत: गोली या बाण की क्रिया भी है, यदि गोली या बाण न हो तो उनकी क्रिया भी नहीं होगी । गोली और बाण क्रिया से संयुक्त गोली या बाण के द्वारा शत्रु का वध किया जाता है । इसी प्रकार सर्वत्र देखा जा सकता है । यह आहित अन्त: प्राण क्रिया, या अन्दर प्रवेश करा दी गई प्राण क्रिया का तीसरा स्वरूप है । चौथी है वही प्राण क्रिया, जैसे झंडा है तो उसमें वही फरफराहट रूपिणी क्रिया भी है । आप इसी प्रकार सर्वत्र देख जाइये तो यह पाइयेगा कि क्रिया मात्र में अपनी सत्ता या अस्तित्व है ही नहीं, वह दूसरे की सत्ता से ही सत्तावती बनी हुई है ।

इन सभी अपने आस पास घटित होने वाली हजारों लाखों क्रियाओं का सूक्ष्म निरीक्षण करके यह देख लेने और समझ में ठीक से जमा लेने पर कि किसी भी छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी कम महत्त्वपूर्ण या अत्यन्त महत्वपूर्ण क्रियाओं में अपनी स्वतन्त्र सत्ता कहीं भी है ही नहीं, इन अनन्त क्रियाओं में सत्ता या अस्तित्व

सर्वत्र अन्यत्र से ही आ रहे हैं। उसी सत्ता से सारा क्रिया जगत् अस्तित्ववान या सत् कहला रहा है। तब ध्यान में स्वत: आ जायेगा कि इन समस्त संसार में दिखाई देने वाली क्रियाओं की केन्द्र स्वरूपा जो अनादि है, कब प्रारम्भ हुई यह आज तक कोई पता नहीं दे पाया, न दिया ही जा सकेगा कि यह शुरू कब हुई, उत्पन्न कब हुई, क्योंकि यह कभी उत्पन्न ही नहीं हुई, और इसके रूपों की कोई अन्तिम गिनती भी आज तक पूरी नहीं की जा सकी और न कभी इसकी गिनती पूरी की ही जा सकती है क्योंकि गिनती पूरी करते-करते उतने ही नए रूपों में वह फिर आकर सामने खड़ी हो जाती है। अत: यह अनादि के साथ ही अनन्त भी है, इसकी स्थूल गणना के रूप में समस्त दृश्यमान और अदृश्यमान जगत् की उत्पत्ति, उसकी स्थिति और उसका संहार गिने गए है, जो समस्त विश्व में व्याप्त हैं, जो एक ही धारा के समान हैं, या वह धाराओं के स्रोत के समान है, जिसको 'महामाया' इस नाम से कहा गया है। वह महाक्रिया ही है, वह सर्वत्र सब के अनुभव में आ रही है, वह भी दूसरे की ही सत्ता से सत्तावती है। यह निश्चय करने का मार्ग शास्त्र ने दिखा दिया। यह भी शास्त्रों का निष्कर्ष है कि जिसकी सत्ता से यह महाक्रिया सत्तावती है वह 'एकमेवाऽद्वितीयम्' है, वह सजातीय-विजातीय स्वगत नाम के भेदों से अलग है, वह सत्तारूप है। इसलिए वह सत्य कहा जाता है। साथ ही उस एक ही सत्ता से सत्तावान बनी हुई जो अनन्त अवयव या स्वगत भेदों वाली, अनन्त रूपों वाली महाक्रिया तथा उसके कारण उत्पन्न होने, उसी के गुणों को ग्रहण करने वाले जितने विकार है यह सब मिथ्या कहे जाते हैं। 'मिथ्या' शब्द मिथ धातु से बना है, जिसका अर्थ है मिला हुआ। मिलना या संगमन है दूसरे के प्राण में अपने प्राण का संगमन करके एकात्म बन जाना। मिथु, मिथ, मैथुन आदि शब्दों में, जो 'मिथ' धातु से बने हैं, यही अर्थ प्रकट किया जा रहा है। अब स्पष्ट हो गया कि मिथ्या जिसे कहा गया वह है ही नहीं यह नहीं समझना चाहिए अपितु यह समझना चाहिए कि जिसे मिथ्या कहा जा रहा है वह दूसरे की सत्ता से बना हुआ तत्त्व या पदार्थ है।

सत्ता के सम्बन्ध

सत्ता का सम्बन्ध तीन प्रकार से होना सम्भव होता है। प्रथम सत्ता सम्बन्ध तो यह है कि जो कभी भी सत्ता से वियुक्त होता ही नहीं और अपनी सत्ता के लिए

दूसरे की सत्ता के लिए दूसरे का लेशमात्र भी जो ग्रहण नहीं करता वह नित्य सत्ता रूप स्वत: सत् है । यह प्रथम सम्बन्ध का स्वरूप है ।

सत्ता के साथ सम्बन्ध का दूसरा रूप देखिए - जहां कहीं सत्ता होती है, जो अपने अस्तित्व या सत्ता के निमित्त या कारण के रूप में दूसरी सत्ता की अपेक्षा करती है, जो पहले 'असत्' होकर भी सत्तावान् से मिलने पर कुछ काल के लिए उस सत्तावान् की सत्ता को लेकर फिर उस सत्ता को छोड़ने के उपरान्त 'असत्' के समान हो जाती है, वह अनित्य सत्तावती अन्य सत्तावती समझी जाती है ।

तीसरा सत्ता के साथ सम्बन्ध यह है कि जिसने कभी सत्ता का संस्पर्श ही नहीं किया,जो पहले कभी नहीं था, जो वर्तमान में भी नहीं है और जो भविष्य में भी कभी नहीं हो पायेगा, ऐसा अपदार्थ, वन्ध्या स्त्री के पुत्र के समान कल्पित किया जाता है, वह अगृहीत सत्तावाला असत् कहलाता है ।

क्रिया शक्ति

इन तीनों सत्ता के सम्बन्धों में जो तीसरा सम्बन्ध है वह आकाश में खिले पुष्प के समान है । वह जगत् के स्वरूप में सम्मिलित न होने के कारण विचार के क्षेत्र में सर्वथा उपेक्षा के योग्य है । उसको आधार बनाकर किसी शास्त्र में कोई विचार नहीं किया गया (जादूगर का जादू मिथ्या स्वप्न आदि इसके दृष्टान्त बनते हैं) । वह अवस्तु होने से शास्त्र विचार में शामिल नहीं किया जाता । उसे छोड़कर सत्ता के साथ दो ही सम्बन्ध अवशिष्ट रहते हैं । जगत् के रूप में जो भी कुछ भासित हो रहा है वह सब दो रूपों में ही विभक्त किया जा सकता है । एक वह जो स्वयं अपनी सत्ता रखता है तथा दूसरा वह जो सत्तावान् से सत्ता लेकर सत् के समान प्रकट हो रहा है । इनमें से प्रथम को हम सत्य कहते हैं और दूसरे को मिथ्या कहा गया है । शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ में कहा गया है - "द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति" सत्य और मिथ्या इन दो ही तत्त्वों में सारा संसार समाया है । तीसरा सम्बन्ध नहीं है । सत्य सदा देवों के साथ है और मिथ्या मनुष्यों के साथ । तृतीय का निषेध शब्दत: करने से तीसरा भेद सत्ता से सम्बन्ध नहीं रखता यह प्रदर्शित किया गया । स्पष्ट है कि अवशिष्ट दोनों भेदों का सत्ता से सम्बन्ध है ।

अब इन दोनों में भी सत्ता का सम्बन्ध होने पर भी सत्ता चूंकि एक ही है दो नहीं, और जो मिथ्या है वह क्रिया शक्ति है ।

अत: एक जगह सत्ता अवस्थित है, उसे सत्य शब्द से कहा जाता है और दूसरी जगह सत्ता का संक्रमण हुआ है, वहां सत्ता गौण है अत: उसे मुख्य से या सत्य से अलग समझने के लिए "मिथ्या" कहा गया है । हमारे सामने यह जो सारा जगत् है, वह सब दो ही रूपों में विभक्त है, जो सत्य है वह ज्ञान शक्ति है और जो मिथ्या है वह क्रिया शक्ति है । ज्ञान शक्ति में सत्ता मुख्य होती है, क्रिया शक्ति में सत्ता का संक्रमण होता है, इसका प्रमाण यही है कि जब क्रिया शक्ति का प्रत्येक अंश बाहर हो जाता है, दूर चला जाता है, हट जाता है, तब भी ज्ञान शक्ति का अनुवर्तन बना रहता है । इसलिए ज्ञान शक्ति ही सत्ता या अस्तित्व है, वह नहीं है, उसका अस्तित्व नहीं है, ऐसा नहीं होता । क्रिया शक्ति अपने से स्वत: तो नहीं है, दूसरे की सत्ता के आधार पर तो यह सारा कुछ विद्यमान रहता ही है । इस प्रकार यह दोनों परस्पर विरोधी होने पर भी अविरोधी ही बने रहते हैं । इसलिए ज्ञान शक्ति की पहचान के लिए कठवल्ली में सुनने में आता है—

"वह वाणी,मन,या नेत्रों से नहीं जाना जा सकता जिसे अस्ति या सत्तावान् कहा जा रहा है, वह उससे अन्यत्र कैसे मिलेगा" ।

"दोनों के तत्त्व या स्वरूप का विचार करने पर सत्ता या अस्तित्व के रूप में ही उस परम तत्त्व की झलक या उपलब्धि होती है,जब उसकी सत्ता की उपलब्धि या साक्षात् अनुभव हो जाता है तो चित्त का संशय मिट कर तत्त्व ज्ञान हो जाता है" ।

इसी प्रकार क्रिया शक्ति के संकेत में देवी गीता में कहा गया है-

"वह क्रिया शक्ति या माया शक्ति न तो सत् है, न असत्, और न सत् और असत् इन दोनों रूपों में एक साथ है, क्योंकि परस्पर विरूद्ध दोनों एक साथ नहीं मिल सकते, अत: सत् और असत् से विलक्षण रूप वाली वह शक्ति वस्तुरूपिणी है, वह सर्वदा है" ।

सूर्य पुराण में भी कहाँ गया है—

"माया न सद्रूपिणी है, न असद् रूपिणी है, न दोनों रूपों वाली है । सर्वथा रहने वाली वह माया सत् और असत् दोनों शब्दों से नहीं कह पाने योग्य मिथ्या रूपिणी है" । यह माया शक्ति मुख्य सत्ता का अनुवर्तन करने के कारण स्वयं 'सत्' नहीं अपितु 'असत्' है ।

यदि यह सत् होती तो किसी भी व्यक्ति के वंश को शुरु करने वाले पुरुषों की पितामह आदि की परम्परा में शुरु से प्रलय पर्यन्त जैसे वे पैदा हुए वैसे ही बने रहते । राम कृष्ण आदि जो त्रेता द्वापर आदि में उत्पन्न होकर जो जो कार्य वे कर गए, यदि यह क्रिया शक्तियां माया शक्तियां 'सत्' रूप होती तो आज भी वैसा ही सब कुछ करते हुए सबके अनुभव में आते, पहाड़, नदी, वन पर्वत आदि भी अक्षय रूप से जैसे प्रारम्भ में थे वैसे ही आज तक एक ही रूप में दिखाई देते । परन्तु अनुभव में ऐसा न आने तथा इसके ठीक विपरीत अनुभव होने से यही सिद्ध हो रहा है कि अनादि धारा की अवयव रूप में प्रकट होने वाली महाक्रिया, तथा क्षुद्र, क्षुद्रतर और क्षुद्रतम क्रियाएं क्रम से अनुवर्तन और विवर्तन करती हुई सभी स्वरूप से 'असत्' हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता ।

एक पक्ष

परमात्मा का अनुवर्तन या अनुगमन करने वाली यह क्रियाशक्ति सर्वत्र उपलब्ध हो रही है, वह दृढ़ ज्ञान में आ चुकी है, अत: वह असती नहीं अपितु सत्तावती है,यदि क्रिया शक्ति में सत्ता का अनुवर्तन न होता, वह सत् नहीं होती, उसमें सत्ता का समन्वय न होता, तब क्षय या विनाश प्रतिक्षण और प्रत्येक अंश में होते रहने पर वह एक अनादि अनन्त, महास्रोत के जैसा स्वरूप रखने वाली, जगत् की उत्पत्ति, उसकी स्थिति और संसार के संहार के रूप में जिसके अवयव क्रम दिखाई दे रहे है, अनुभव में आ रहे हैं, जो प्रतिक्षण में विलक्षण नहीं प्रतीत होने वाली है ऐसी महाक्रिया है, यह ज्ञान ही नहीं होता, ऐसी प्रतीति ही नहीं होती । इसलिए वह 'सत्' है, अस्तित्व वाली है, यह हम अनुभव कर सकते है, जान सकते हैं । नया विचार यह आता है कि जो क्षोभ है वह अभाव रूप है, भाव या सत्ता दूसरे स्थान से आ रही है, अभाव कोई वस्तु होती नहीं है, यह माया वस्तु स्वरूपेण है

अत: वह सत् और असत् दोनों ही नहीं हो सकती । अत: क्रिया की मुख्य सत्ता की जब अपेक्षा करके बोला जायेगा तब क्रिया शक्ति या माया शक्ति 'असत्' कही जायेगी तथा जब दूसरे की सत्ता के सम्बन्ध होने की अपेक्षा रखकर कहा जायेगा तब उसे 'सत्' शब्द से ही कहना होगा । जब मुख्य सत्ता और पर सत्ता दोनों को एक साथ कहते हुए संकेत किया जायेगा तब उस क्रिया शक्ति या माया शक्ति को सत् और असत् एक साथ कहा जा सकेगा यह व्यवहार की दृष्टि है । परमार्थ या वास्तविक दृष्टि से विचार करने पर तो यह क्रिया शक्ति या माया शक्ति सत् और असत् स्वरूप वाली होने से 'असत्' ही कही गई है । 'सत्' स्वरूप वाली ज्ञान शक्ति तो 'सत्' ही मानी गई ।

इस प्रकार मूल तत्त्व सत् दो रूपों में ज्ञातव्य होता है । जो सत् या सत्ता से नित्य सम्बन्ध ज्ञान रूप अर्थ है उसमें सत्ता सर्वदा विद्यमान है, जो असत् अर्थ है वह उसी से सत्ता लेता हुआ अपना स्वरूप बनाता है और सत्ता को छोड़ता जाता है तो वह अपने स्वरूप को छोड़ बैठता है, इसी को संसारस्थिति कहा जाता है ।

इन दोनों में जहाँ सत्ता नित्य विद्यमान है उसे 'सत्' का तथा जहाँ सत्ता कभी-कभी संक्रमित होती है, उसका सत्ता के बिना रूप क्या होता है यह बतलाना तो सर्वथा असम्भव बात है क्योंकि वह स्थिति मन और वाणी दोनों की पकड़ या सीमा के बाहर है । चाहे वह स्वयं की सत्ता वाला हो चाहे अन्य की सत्ता से सत्तावान बना हो किसी भी तरह सत्तायुक्त होने पर ही कोई तत्त्व ज्ञान में आ सकता है । जिसकी सत्ता ही न हो ऐसा कोई पदार्थ या तत्त्व ज्ञान में आ ही नहीं सकता । जितना भी ज्ञान है व सत्ता के कारण ही है, और वह सत्ता या अस्तित्व अनन्त पदार्थों में भी एक रूप ही है । "है" यह प्रयोग उन सबके साथ एक समान रूप से रहता है अत: यह सारा कुछ एक ही है जो दो रूपों में प्रकट हो रहा है, एक 'सत्' है दूसरा 'असत्' । जितना ज्ञान शक्ति का अंश है वह 'सत्' है, वह सत् चित् आनन्द रूप है । उसके अतिरिक्त जितना क्रिया शक्ति का अंश है वह नाम और रूप वाला सारा तत्त्व 'असत्' शब्द से व्यवहार में लाया जाता है सत् को ही ब्रह्म और असत् को ही माया कहा जाता है । दोनों ही के दो-दो रूप होते है एक वह जिसको कहकर बोलकर शब्दों के द्वारा समझाया , बोला, कहा, जा सकता है और दूसरा वह जिसे कहा नहीं जा सकता, जो 'अनिर्वचनीय' है ।

यहाँ हमें चूंकि व्याख्यान करना है, कहना है, अत: जिसे कहा नहीं जा सकता ऐसे ब्रह्म और माया दोनों के अनिर्वचनीय रूपों को हम छोड़ते हैं । दूसरा रूप सत्ता से विशेषित है, सत्ता या अस्तित्व में आने पर उनका कथन, प्रतिपादन निर्वचन आदि होते हैं ।

जैसे स्त्री और पुरुष के संयोग से पुत्र-पुत्री उत्पन्न होते हैं, वैसे ही स्त्री पुरुष के ही समान् सत् और असत् का संयोग होने पर उन दोनों के अंशो से एक-एक वस्तु दुनियां की निर्मित हुई है, होती है, होती रहेगी । अतएव यह सारा जगत् सत् और असत् के मिथुनीभूत रूप से बना हुआ समझा जा सकता है । यह सारा जगत् सत् और असत् का समुचित रूप ही है । ज्ञान शक्ति 'सत्' है अपने में उत्पन्न होने वाली क्रिया में वह 'अस्तित्व' या सत्ता को संक्रमित करके 'असत्' है वह भी 'सत्' या अस्तित्व वाली, मालूम होती है और जैसे ज्ञान शक्ति क्रिया शक्ति में सत्ता देकर उपकार कर रही है वैसे ही ज्ञान शक्ति उसी क्रिया में चेतना का समन्वय करती है तथा प्रेम का या आनन्द का भी आधान करती है । इसलिए यह सारा दृश्यमान जगत् ज्ञान शक्ति की दी हुई चेतना से अन्यों को अन्य रूप में भासित हुआ करता है । इसी प्रकार हम देखते हैं कि विश्व की प्रवृत्ति एक दूसरे का अनुगमन करने वाली है, न कि एक दूसरे से तंग आते हुए लगते हैं । क्रियाएं यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं तथा धारा के समान जो सतत् भाव है, वह अनेक में भी एक की बुद्धि कराता है, इसलिए यह ज्ञान शक्ति "सच्चिदानन्द" कही जाती है, यह सूक्ष्म दृष्टि से समझा जा सकता है ।

इसी प्रकार जो क्रिया शक्ति है वह 'असत्' है 'परन्तु अवस्थाओं का भेद समर्पित करते हुए ज्ञान शक्ति का उपकार करती है । इसीलिए एक ही ज्ञान शक्ति का उपकार करती है । इसीलिए एक ही ज्ञान शक्ति अवस्थाओं के भेदों से मिलते अनेक या नाना भाव को प्राप्त कर लेती है । इसलिए संसार की संस्थिति में ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति का परस्पर उपकार्य और उपकारक भाव विद्यमान है । किन्तु क्रिया शक्ति कभी भी ज्ञान शक्ति के बिना अपना स्वरूप भी धारण करने में समर्थ नहीं होती इसीलिए ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति दोनों एक रूप होकर ही अर्थ की प्रतीति कराती हैं । यहां जगत् के पदार्थों में ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति का पृथक्-पृथक् स्वरूप ज्ञान साधारण बुद्धि से नहीं किया जा सकता ।

दर्शन

यही कारण है कि ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति के संमिश्रण से बने हुए इस संसार का समाधिगत स्पष्ट परीक्षण करने वाले महर्षियों के विचार तीन दर्शनों में विभक्त होकर हमें प्राप्त हो रहे हैं ।

प्रथम दर्शन में बतलाया गया है कि केवल क्रिया शक्ति ही अस्तित्व में यहाँ इस विश्व में है ।

दूसरा दर्शन कह रहा है कि क्रिया शक्ति की विशेषताओं से भरी ज्ञान शक्ति ही संसार के रूप में प्रकट, प्रकाशित है ।

और तीसरा ऋषि दर्शन कह रहा है अस्तित्व तो केवल एकमात्र ज्ञान शक्ति ही रखती है ।

क्रिया प्रधान

अब इन तीनों दर्शनों का स्वरूप हृदयंगम कर लेना होता है । प्रथम ऋषि दर्शन या सिद्धान्त के अनुसार क्रिया शक्ति ही एक मात्र तत्त्व है । जिसे ज्ञान शक्ति यह भारी भरकम नाम दिया जा रहा है वह क्रिया शक्ति से पृथक् कोई अर्थ या तत्त्व नहीं सिद्ध किया जा सकता । ज्ञान शक्ति का प्रतिपादन करने वाले सत्ता चैतन्य आदि को ज्ञान शक्ति का स्वरूप बतला रहे हैं, वह सत्ता चैतन्य आदि क्रिया शक्ति से अतिरिक्त पदार्थ, वस्तु, सिद्ध नहीं होते । क्रिया शक्ति संसार अवस्था में पदार्थों में, संसार में, छः विकारों में प्रतिफलित हो रही है, वे हैं—

जायते (उत्पत्ति),अस्ति (स्थिति), वर्धते (बढ़ना),विपरिणमते (स्वरूप गुण परिवर्तन), अपक्षय (क्षीण होना), नश्यति (अदर्शन होना) । इनमें सत्ता या अस्तित्व, जिस ओर ज्ञान शक्ति की पहचान बतलाया गया, वह दूसरा विकार है वस्तु जगत् में होने वाला । वस्तु की दो प्रकार की अवस्थाओं का एक अन्य विश्लेषण भी ध्यान में लेना आवश्यक है । वस्तु की दो अकार की अवस्थाएं अनुभव में आ रही हैं । 'वह है' 'वह जा रहा है' । इनमें 'जा रहा है' इस अवस्था को क्रिया के रूप में पहचाना जा रहा है, वैसे ही 'है' इस अस्तित्व अवस्था को क्रिया के रूप में समझ लेना अनिवार्य है । अब यह उदाहरण स्पष्ट कर रहा है कि जो है, जो हो रहा है, वह

चेष्टा कर रहा है, जो ज्ञात है, जो चेतना युक्त है, वह चेष्टावान है, जो प्रसन्न है, जो प्रेमी है, वह चेष्टा है, क्रिया है । इस विचार श्रृंखला के अनुसार अब कौन ऐसा अर्थ बाकी बचा जिसे हम ज्ञान शक्ति इस नाम और स्वरूप से क्रिया शक्ति से अलग और उसका भी आधार माने या समझें । अत: यह मानना होगा कि जो भी कुछ जगत् या संसार के स्वरूप में संचालिका है वह क्रिया शक्ति ही है, उसके अतिरिक्त तत्त्व रूप अन्य कुछ नहीं है ।

सन्देह और निराकरण

ज्ञान शक्तिवाद की ओर से एक बड़ा तर्क यह है कि क्रिया आश्रय के बिना स्वरूप भी ग्रहण नहीं कर सकती इसलिए क्रिया के आश्रय के रूप में ऐसा एक अर्थ अवश्य है जो क्रिया से विपरीत गुण धर्म रखने वाला है, जो क्रिया के जैसा नहीं अपितु उससे विलक्षण है तभी तो आधार या आश्रय बनाकर क्रिया उत्पन्न हो सकेगी, ठहर सकेगी और विलीन हो सकेगी फिर क्रिया होगी, फिर होगी, वह एक धारा चलेगी, उसका आधार आश्रय "एकमेवाद्वितीयम्" ही रहेगा, इसका उत्तर देते हुए क्रियैकत्ववादी कहते हैं कि क्रिया ही क्रिया का आश्रय भी बन सकेगी इसमें कोई बाधा नहीं । क्रिया स्वरूपत: चार प्रकार से दिखाई देती है - एक वह जिसमें अवयवों में क्रिया या चलना हो रहा है, समुदाय जैसा का तैसा स्थिर रहता है जैसे कुम्हार का चक्र । वहां अवयव घूमते हैं अवयवी नहीं घूमता । आजकल बच्चों के लिए नए बनाए गए ऐसे कितने ही खिलौने हैं जिनमें प्रधान हिस्सा जहां का तहां रहता है परन्तु उसके अवयव तेजी से घूमते हैं । क्रिया के दूसरे रूप में समुदाय ही चलता है अवयव जैसे के तैसे निश्चेष्ट रहते हैं, जैसे रास्ते में गाड़ी बिगड़ जाने पर गाड़ी को किसी दूसरे वाहन में रखकर ढ़ोया जाकर ठीक करने के स्थान पर पहुंचाया जाता है उस स्थिति में ढोया जाने वाले समुदाय में तो ढोया जाने की क्रिया है, वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंच रहा है, परन्तु उस ढोये जाने वाली गाड़ी के कल पुर्जे सभी निश्चेष्ट हैं, उनमें उस काल में कोई क्रिया नहीं है ।

तीसरा भेद वह है जहाँ समस्त अवयवों और समुदाय के साथ-साथ क्रिया हो रही है । ड्राइवर के हाथ से कारड्राइव की जा रही है, कार उसके भीतर के पुर्जे

सभी सक्रिय हैं। चौथा भेद वह है कि कुछ प्रधान अवयवों में तो क्रिया है उसके साथ समुदाय में भी क्रिया है, कुछ अवयवों में क्रिया नहीं भी है। यदि कार की सीट देखी जाए, बॉडी देखी जाए तो उनमें क्रिया नहीं दिखाई देगी, उनकी दृष्टि से क्रिया नहीं है। क्रिया के इन स्वरूपों में जो तीसरा और चौथा भेद है वहाँ समुदाय की क्रिया को आधार बनाकर अन्य क्रियाएं हो रही हैं। इस पद्धति से क्रिया भी क्रिया का आश्रय बन रही है यह निश्चित हो जाता है।

हम इसका स्पष्टीकरण दूसरी तरह से भी करेगें जैसे पृथ्वी के पदार्थ दो प्रकार के हैं अवयव और समुदाय। इनमें अवयव परमाणु रूप वस्तु गुण हैं,उन गुणों का कूट या एकत्र अनेकों की संस्थिति समुदाय रूप होकर द्रव्य कहलाती है। उस समुदाय रूप में द्रव्य में अवयव रूप में सारे गुण धारित हैं, और अवयव रूप गुणों से यह समुदाय धारित है, अवयव रूप गुणों के न रहने पर समुदाय स्वरूपतः नष्ट होगा, इसलिए इस उदाहरण में ये अवयव धर्म रूप हैं और उनका समुदाय धर्मी रूप है।

इसी प्रकार अनेक क्रियाओं के समूह का रूप एकत्र होने पर वह महाक्रिया होती है, वह समुदाय रूपा है, उसे क्रिया-सन्तान रूपिणी, क्रियानिर्माण रूपिणी कहा जाता है।

लाइटर लेकर गैस जलाने से लेकर अनेक छोटी क्रियाओं को लेकर या फूंक कर चूल्हा जलाना आदि लघु क्रियाओं का समूह भोजन बनाना या पाक क्रिया हुई। बार-बार पैर उठाना और रखना जैसी अनेक छोटी क्रियाओं का समूह गमन क्रिया हुई, इसी प्रकार शतशः छोटी क्रियाएं बड़ी क्रिया का स्वरूप खड़ा कर रही हैं। महाक्रिया को आधार या आश्रय बनाने वाली क्षणिक क्रियाएं अवयव रूपा हैं, उन्हें धर्म के रूप में अनुभूत किया जाता है, जो समुदाय बनता है, वह अपने स्वरूप निर्माता अवयवों से अलग नहीं होता, इसलिए अनेकानेक क्षणिक क्रियाओं का आश्रय रूप समुदाय ही क्रिया का आश्रय बना और यह सिद्ध हुआ कि क्रिया ही क्रिया का आश्रय बनती है। अब क्रिया के आश्रय के रूप में क्रिया से विजातीय किसी अन्य तत्त्व की कोई आवश्यकता नहीं रही। देख लीजिए, यह पूर्व कोटि को प्रकट करने वाला पूर्व मीमांसा का या मीमांसाशास्त्र का निष्कर्ष सारभूत तत्त्व

है ।"कर्मेति मीमांसका:" का यही सिद्धान्त रहा है इन तर्कों युक्तियों, वाक्यों ऊहापोहों से ग्रन्थ पर ग्रन्थ रच कर केवल क्रिया या कर्म ही संसार का अनादि अनन्त मूल तत्त्व है उसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, यह कहते हुए, ज्ञान शक्ति के स्वरूप के दूरीकरण के साथ ही उसकी प्रधानता होने की बात को बहुत दूर फेंक दिया गया । अब हम को कुछ अन्य भी सुनना होगा ।

अस्तित्व केवल क्रिया शक्ति में ही है यह नहीं माना जा सकता क्योंकि क्रिया शक्ति तो जड़ है । सारे संसार को हम जड़ और चेतन इन दो विभागों में बांट कर दो भेदों में समझते हैं, ये दोनों एक दूसरे से सभी गुणधर्मों में विलक्षण है, भिन्न हैं ।

यह जो क्षोभरूप क्रिया है वह सत्त्व, रज और तम शब्दों से तीन प्रकार की कही गई है । इसी का नाम प्रकृति है, वही स्वभाव कहलाता है यदि इनसे अन्य कोई नहीं तो यह किसके स्वभाव हैं, क्या होगा इस प्रश्न का उत्तर, इसलिए एक पुरुष है जिसकी यह प्रकृति या स्वभाव है ।

प्रकृति

कहा गया कि प्रकृति शब्द का एक स्वभाव ही अर्थ नहीं अपितु प्रकृति शब्द के अनेक अर्थ हैं । यहाँ प्रकृति शब्द उपादान कारण का वाचक है । कार्य रूप समस्त विश्व का यह प्रकृति (सत्त्व-रज-तम) उपादान है, इसीलिए इसे प्रकृति कहा गया है । यहीं जवाब सुन लीजिए अपने इस तर्क का कि जिस प्रकार का दूसरा अर्थ उपादान रूप दिखाकर आप प्रकृति शब्द की अनेकार्थकता का आश्रय ले रहे हैं, इस प्रकार की अनेकार्थकता से यहाँ कोई काम नहीं निकलेगा, क्योंकि सर्वत्र स्वभाव ही मूल कारण दिखाई दे रहा है, जिसे आप उपादान कह रहे हैं, सभी स्वभाव का ही अनुरोध रख रहे हैं, वह स्वभाव ही है जिससे कोई वस्तु अन्य सबसे भिन्न दिखाई दे रही है । इस संसार में भोग में आने वाली जितना कुछ प्रस्तुत है उसके मूल में स्वभाव ही है । इसलिए स्वभाव ही प्रकृति है । तब स्वत: प्रश्न है कि यह किसका स्वभाव है उत्तर के रूप में चेतन पुरुष को देखा गया है । यह पुरुष अपनी प्रकृति से कभी भी पृथक् नहीं है । अत: अग्नि हो या वायु, जल हो या पृथ्वी या आकाश, ये प्रत्येक प्रकृति और पुरुष हैं, प्रकृति के द्वारा कुछ उत्पन्न होता है, वह

आत्मा में रहता है, उसी आत्मा ने यह किया है, यह भान होता है, यही प्रकृति का पुरुष के द्वारा फलभोग है । यदि यह ज्ञान रूपी पुरुष न हो तब तो क्रियाशक्ति रूपा उस प्रकृति का एक क्षण के लिए भी स्थित रहना असंभव होगा, क्योंकि तब उसका कोई आश्रय ही न रहेगा, आश्रय रहित होने पर उसका स्वरूप संगठन ही नहीं रह सकेगा ।

क्रिया शक्ति का जो स्वरूप है वह उत्पन्न और नष्ट होने वाला क्रम है, वह आश्रय के बिना अपना स्वरूप ही धारण नहीं कर सकेगा । इसलिए संसार के आदि से लेकर अन्त तक के क्रिया कलाप का जो लहरों के रूप में समझा जा सकता है, उसका लहरों को अपने आश्रय के लिए जैसे बहता जल चाहिए वैसे ही इस अपार क्रिया समूह को भी आधार के लिए पुरुष की आवश्यकता होती है । वह आधार क्रिया से विलक्षण स्थिर रूप या ध्रुव होना अपेक्षित है उसी का नाम ज्ञान शक्ति है । वह क्रिया से अतिरिक्त है इसीलिए काल का कोई सम्बन्ध ही उसके साथ नहीं जुड़ता, क्योंकि काल का स्वरूप तो क्रिया के सम्बन्ध से ही बनता है । इसीलिए यह ज्ञान काल से ही व्याहत, नियन्त्रित या बाधित न होने से नित्य सर्वथा स्थिर है । जल धाराओं, लहरियों की तरह उसी कूटस्थ अविचाली विज्ञान के घनीभूत रूप में अनन्त क्रिया शक्तियां निरन्तर उस पर ही विलीन होती दिखाई दे रही हैं । इसी सारे का नाम जगत् है, संसार है, विश्व है । यहां क्रिया शक्ति के अतिरिक्त और कुछ भी उपलब्ध नहीं हो रहा है यह बात बिलकुल सच है तथापि शक्ति का आदि अव्यय है और उसका विलय भी अव्यय में ही हो रहा है इसीलिए वह सत् या सत्तावती नहीं है यही माना जाता है, ऐसी स्थिति के मध्य में जो उसका होने वाला रूप है वह भी गीता के" नासतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सत:" इसी सिद्धान्त के अनुसार उसको सत्तावान के रूप में स्वीकार करने का विचार नहीं हो पाता । देखा तो यही जा रहा है कि सतत् धारा के समान प्रवाहमान उत्पत्ति और विनाश का उत्पादक होने से अनेक क्रियाओं में भी एक होने की प्रतीति का कारण बनी हुई कोई सत्ता या अस्तित्व वहां मौजूद है । जहां 'है' पन है, अस्तित्व है, वहीं चेष्टा करने की बुद्धि भी है । यह सत्ता या अस्तित्व 'असत्' स्वरूप वाली क्रिया की किसी भी जरूरत के बिना, अपेक्षा के बिना अपना स्वरूप धारण करता है ।

सत् और असत्

इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ को दो प्रकार से देखा जा सकता है । जिसको सामने रखकर उसके अस्तित्व का ज्ञान या समझ होती है वह 'सत्' अस्तित्व युक्त है और जिसके कारण पदार्थ रूपान्तरित हो रहा है वह असत् अस्तित्व शून्य है । अस्तित्व वाली ज्ञान शक्ति है, असत् सत्ता शून्य क्रिया शक्ति है । नित्य रहने वाली ज्ञान शक्ति रूपी अपने आश्रय में क्रिया शक्ति बाद में उत्पन्न होती है, न कि असत् या अभावशालिनी । क्रिया शक्ति में सत्ता वाली ज्ञान शक्ति उत्पन्न होती है । (शतपथ) श्रुति में यह प्रसंग आया है कि "हे सौम्य, प्रारम्भ में वह सत् ही था, वह एक ही था वह अद्वितीय, (दूसरे के साथ नहीं)" था । आगे वही श्रुति अन्य मत उपस्थित करते हुए कहती है कि प्रारम्भ एक ही और अद्वितीय असत् ही था, उस असत् से ही सत् हुआ । हे सौम्य, वहां यही प्रश्न हुआ कि जो असत् है उससे सत्, सत्ता कैसे उत्पन्न हुई, हे सौम्य, यही ठीक है कि प्रारम्भ में सत् ही था, वह एक ही था, वह अद्वितीय था ।

यह कहा गया था कि बड़ी क्रिया छोटी क्रियाओं का आश्रय बनती है, यह कथन त्रुटिपूर्ण होने से उपेक्षा के योग्य है । कोई भी क्रिया केवल तीन क्षण ही रहती है उसके पास समय ही नहीं है कि वह अन्य किसी क्रिया का आश्रय बन सके । एक क्षण में जैसे ही क्रिया स्वरूप ग्रहण करती है, तब जिस क्षण में दूसरी क्रिया का आधार बनने का अवसर आया कि उसी क्षण उसका स्वरूप विलीन हो जाता है, अत: वह दूसरी क्रिया का आश्रय कभी भी बन ही नहीं सकती । बड़ी क्रिया और छोटी क्रिया की जो बात कही गई वह भी भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, क्योंकि कोई भी क्रिया तीन क्षण से अधिक रहती ही नहीं, उसमें क्षुद्रात्व महत्व, छोटापन, बड़ापन रूपी विशेषताएं आना सम्भव ही नहीं है । आश्रय के छोटा या बड़ा होने से क्रिया में छोटा या बड़ा होने का भ्रम होता है । अब यदि आश्रय रूपी पुरुष न होगा तो क्षण भर के लिए भी कोई भी क्रिया स्वरूप धारण करने में असमर्थ रहेगी यह बात समीक्षकों को ठीक से ध्यान में रखनी होगी । इसलिए ज्ञान शक्ति, इस दूसरे नाम वाले पुरुष को अपना आश्रय बनाने वाली क्रिया शक्ति इस दूसरी संज्ञा वाली भी कृति है, यह सिद्ध हुआ । यह विचार सरणि"मध्य मीमांसा"कही

जाती है क्योंकि इसमें पहले की और आगे की दोनों विचार कोटियों का समुच्चय मिलता है ।

इस मत के समर्थन में महाभारत मोक्षधर्म प्रकरण में राजा जनक की उक्ति को प्रमाण रूप से समझने में सहायता मिलेगी ।

जो मोक्ष शास्त्र के ज्ञाता हैं वे ज्ञान निष्ठा को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं, तथा सूक्ष्मदर्शी यति गण कर्म निष्ठा को महत्त्व देते हैं । इन दोनों ज्ञान और कर्मों को छोड़कर पञ्चशिख आचार्य ने मुझे यह तीसरी निष्ठा बतलाई,जिसमें सांख्य सरणी प्रधान है, जिसे मैंने तत्त्व रूप से जान लिया है । मुझे तीन प्रकार का मोक्ष बतलाया और मेरे राज्य से मुझे अलग या विचलित होने या संन्यास ग्रहण करने का भी आदेश नहीं दिया ।

महाभारत-मोक्षधर्म अ० ३२०

अन्य विद्वान् इस पर अपना विचार आगे करते हैं—

एक ही है ज्ञानशक्ति, लेकिन वह बहुभाव में चली गई, अनेक हो गई निर्विकल्प ज्ञान, सविकल्प ज्ञान और मिथ्या ज्ञान । पहला अमृत ब्रह्म तत्त्व है । दूसरा विद्या तत्त्व कार्य ब्रह्म है, वह पुरुष है । वही यह जगत् है । तीसरा अविद्या तत्त्व वस्तु रूप नहीं है, वह अवस्तु है । प्रथम और तीसरा मिलने पर जगत् का कारण स्वरूप बनता है । जब संयोग या मिलन नहीं होता तो प्रत्येक के द्वारा संसार नहीं होता । प्रथम और तृतीय ज्ञान रूपों के संयोग की अवस्था ही वह विद्या है । वही इस जगत् का स्वरूप है । वही प्रकृति कहलाती है । प्रकृति ही यह सारा दृश्यमान जगत् है । इन सब दृश्यमान के लिए कहा जाता है कि विद्या ही यह सब है, उसका जब विभाजन करके बोलें तो यही विद्या ही यह सब है, उसका जब विभाजन करके बोलें तो विद्या कहीं जाकर यह सारा दृश्य अविद्या ही कहा जायेगा । ब्रह्म की आधारता को और सर्वरूपता को लक्ष्य करके कहा जायेगा "ब्रह्मैवेदं सर्वम्"यह सब कुछ ब्रह्म ही है । अब यह श्रुति वाक्य जो एक प्रकाश स्तम्भ के समान है ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्याऽमृतमश्नुते

इसका रहस्य भी परोक्ष नहीं रहा क्योंकि मूल तत्त्व या मूल शक्ति अब दो परस्पर विपरीत रूपों में आ गई जो परमेश्वर को जीव रूप में अपने घेरे मे लेकर कर्म कराने और उनका भोग कराने के प्रवाह में डालने के लिए ब्रह्म को अपने-अपने घेरे में लेने के लिए आगे बढ़ी और वह ब्रह्म जब इन विद्या और अविद्या के घेरे में आकर जीव बना तभी यह श्रुति वाक्य लागू हुआ जो उस अवस्था में प्राप्त जीव को सम्बोधित है । देखिए, यहां जो जीव है वह अविद्या के या विद्या के घेरे में आया हुआ मूल तत्त्व ही है जो स्वरूपत: सर्व शक्ति सम्पन्न सर्वकरण समर्थ, अचिन्त्य तत्त्व है, अविद्या और विद्या की खुशी के लिए जो उसी की अपनी अन्तरंग शक्तियां है, वह उनके अनुसार चलता हुआ, अपने से विपरीत स्वभावों को भी ओढ़ लेता है, वह शरीर धारण कर,दुखी,सुखी,पीड़ाग्रस्त, हर्ष से भरा, हो जाता है वह उसके अपने रूप के नितान्त विपरीत है, और ऐसा समझना भी विचारापन ही होगा कि इस समय बेचारे शरीर में जो परम तत्त्वांश है वह अपने मूल रूप में नहीं विकृत रूप में है, ऐसा सब कुछ नहीं है, बस विद्या अविद्या के विनोद में वह प्रवृत्त है, यही एक मात्र दार्शनिक उत्तर बनता है और इस दृष्टि से कोई दु:ख या सुख वास्तविक ही नहीं, वह तो मूल चैतन्य की विद्या अविद्या के साथ क्रीडानुभूति मात्र है ।

कहीं अविद्या को प्रकृति और विद्या को पुरुष कहा गया है—

अविद्यामाहुरव्यक्तं सर्गप्रलयधर्मिणं सर्गप्रलयनिर्मुक्तं विद्यां वै पंच-विशकम् (मोक्षकम्)

यत: प्रधान पुरुषौ यतश्चैतच्चराचरम् ।
कारणं सकलस्यास्य स नो विष्णु: प्रसीदतु ।।

"यह आदि है ज्ञान ही परम ब्रह्म है ज्ञान ही वन्दना के लिए अभीष्ट है, यह विश्व ज्ञानात्मक है ज्ञान से अतिरिक्त और कुछ नहीं है । हे मैत्रेय, विद्या और अविद्या को ज्ञान ही समझो ।"

ज्ञानमेव परं ब्रह्म ज्ञानं बन्धान्नचेष्यते ।
ज्ञानात्मकमिदं विश्वं न ज्ञानाद् विद्यते परम् ।
विद्याऽविद्येति मैत्रेय ज्ञानमेवाऽवधारय ।। (विष्णु पु.२)

पूर्व मीमांसा में भौतिकी भावना है, सांख्य में अक्षर भावना है, तीसरे में परमेश्वरी भावना होती है—

भौतिकी भावनापूर्वे सांख्ये त्वक्षरभावना ।
तृतीये चान्तिमा प्रोक्ता भावना परमेश्वरी ।।

जो भी कुछ दिखाई दे रहा है,वह सब ज्ञान शक्ति ही है ।

आश्रय रूपिणी एक मात्र ज्ञान शक्ति ही सत् रूपिणी, यह सिद्ध हो चुका है । वहाँ उत्पन्न और विनष्ट होने वाली "असत्" रूप वाली सभी क्रियाएं, अपने आश्रय के अतिरिक्त कुछ नहीं है, यह प्रतिफलित है । जैसे लहरें जल रूप हैं, अपने आश्रय रूप जल में उत्पन्न होकर जल में विलीन हो जाती हैं, और अनन्त: उन्हें जल ही मानना होता है, उसी तरह ज्ञान पर ही क्रियाएं उत्पन्न और लीन होकर अन्त में ज्ञान रूप में ही चली जाती है, वह अपने आश्रय ज्ञान के ही रूप में है । अब समझना होगा कि "क्रियाशक्ति-क्रियाशक्ति" कहकर जो सब जगह दिखाई देती है, वह तत्त्वत: माया रूप क्रिया शक्ति के द्वारा एक ज्ञान शक्ति ही यत्र तत्र सर्वत्र अनेकानेक रूपों में प्रतिभासित है ।

सत्-चित्-आनन्द

इस ज्ञान शक्ति का रूप क्या है ? यह प्रश्न उपस्थित होने पर उत्तर में सत्, चित् और आनन्द ज्ञान शक्ति है यह उत्तर मिलता है । यह सत्, यह चित्, यह आनन्द, ये तीनों शाखाएं जिस एक ही मूल से प्रवाहित हैं वही मूल ज्ञान शक्ति है, बहुत सोचने पर भी उस ज्ञान शक्ति का सत्, चित्, आनन्द से अतिरिक्त और कोई भी रूप समझ में नहीं आ पाता है । वह भी अपनी प्रकृति क्रिया शक्ति का स्वयं से जो सम्बन्ध है वही क्रिया को साथ लेने वाला भाव ज्ञान शक्ति रूप में प्रकल्पित हो रहा है, इसी रूप में ज्ञान शक्ति क्रिया का उपकार कर रही है । यदि ज्ञान शक्ति न हो तो क्रिया शक्ति में प्रतीत होने वाली सत्ता, चैतन्य और आनन्द नहीं बन सकता । यह भी नहीं हो सकता कि सत्, चित् और आनन्द को हम क्रिया शक्ति के ही धर्म मान लें, क्योंकि इनमें परस्पर विरोध है । दो विरुद्ध वस्तुओं में आधार में अभेद तो दिखाई दे सकता है परन्तु स्वरूप में अभेद नहीं हो सकता । क्रिया का रूप है क्षोभ, वह प्रतिक्षण विलक्षण रूप वाली है, वह उत्पन्न होते ही विनष्ट होती है, उत्पन्न

होने के बाद वह क्षण भर सत् नहीं रह सकती और जो सत् है वह क्षण भर के लिए भी असत् नहीं हो सकता । क्रिया तो पहले है, फिर है, बनती है, फिर नहीं हो जाती है, इस तरह तीन रूपों में रहती है । उनमें भी जहां यह नहीं है, वहां भी कुछ है इस रूप में ज्ञान होता है । जहां यह क्रिया दिखाई देती है और नहीं दिखाई देती वहीं असत् रूपिणी क्रिया के अतिरिक्त 'सत्' सामने आता है ।

जो विचारक मानते है कि असत् से सत् के अतिरिक्त होने पर भी 'सत्' से 'असत्' अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है, उनके मत में द्वैत नहीं है । बात एक ही है, चाहे उसे क्रिया शक्ति नाम दे दें या ज्ञान शक्ति कह लें । व्यवहार में उतरने पर विरोध देखते हैं, इसलिए इन्हें दो मानते हैं, एक धर्म है दूसरा धर्मी है । धर्म क्रिया शक्ति है धर्मी ज्ञान शक्ति है । इसीलिए इस क्रिया शक्ति का व्यवहार काल में अपने आश्रय से भिन्न दिखाई देना, काल्पनिक है । परमार्थ सोचते हुए अपने आश्रय ज्ञान से अभेद वास्तविक है, इस प्रकार अन्त में यह सारा कुछ ज्ञान शक्ति ही है यह निस्संदिग्ध रूप से सिद्ध हो जाता है ।

इसी प्रकार आर्यों के धर्म का आश्रय वेद है, "वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ" वेद से धर्म उत्पन्न होता है । उसके व्यवहार काल में अपने आश्रय से भिन्न प्रतीत होने पर भी परमार्थतया, वेद से धर्म अभिन्न है यही सिद्ध होता है ।

क्रिया शक्ति की विभिन्नताओं के कारण, उसके अनेक रूपों के कारण जहाँ विशेष क्रियाओं में ज्ञान शक्ति का स्वरूप है वह सत्त्व प्रधान क्रिया शक्ति है, जहाँ पूर्ण रूपेण ज्ञान शक्ति तिरोहित है वहां यह क्रिया शक्ति तम-प्रधान है । इस प्रकार क्रिया शक्ति के विशेष रूपों के दो प्रकार होने से यह सारा जगत् दो रूपों में भिन्न प्रतीत हो रहा है, जिनकी संज्ञा है चेतन और जड़ ।

सन्देह यहाँ अपना सिर उठाता है कि अभी कहा गया कि क्रिया में जब सत्त्व की प्रधानता होती है तब ज्ञान शक्ति का प्रतिभास होता है, उसी को चेतन कहा जाता है, यह बात समझ में नहीं आती । क्योंकि जो प्राकृतिक अर्थ है, वे क्षण-क्षण में अपनी विचित्रता फैलाने वाले हैं, और वे अनेक प्रकार या जाति के हैं । उनका जिस मनोवृत्ति से ग्रहण होता है या जिससे यह सब समझ में आता है, वह मनोवृत्ति इन पदार्थों से बिलकुल पृथक् तत्त्व की प्रधानता में विकसित हुई है । वह

सभी अन्य क्रियाओं से विलक्षण है यह स्वीकार किया गया है । वह ज्ञान शक्ति रूपिणी है, इतने मात्र के स्वीकार करने पर आप जो सिद्ध करना चाहते हैं, वह बात बन जाती है । तब यह कहना कि जहाँ सत्त्व प्रबल होता है वहाँ ज्ञान शक्ति का प्रतिभास या स्पष्टता होती है, निष्फल कथन ही होगा । अन्य पदार्थों को प्रकाशित करने वाली जो मनोवृत्ति है, वह क्रिया से अतिरिक्त नहीं है, तब उससे भिन्न किसी ज्ञान शक्ति की आज तक सिद्धि न हो सकी, तब उक्त कथन कि अमुक गुण की प्रधानता में ज्ञानशक्ति प्रतिबिम्बित हो जाती है, निष्फल ही माना जायेगा । इस सन्देह को दूर करने के लिए समझना होगा कि यह जगत् का निर्वाह करने वाली क्रिया शक्ति प्रत्येक क्षण में प्रसव करती या उत्पादन करती है । इसे 'रजस्' शब्द से कहा जाता है । वह संचर या प्रतिसंचर का स्वभाव या स्वरूप रखने के कारण दो भेदों वाली है । इनमें संचर कहते हैं जगत् के विस्तार में या प्रकृति में लगी हुई प्रवृत्ति को । इनमें भी संचर है जगत् को फैलाने वाली प्रकृति । वह भी दो प्रकार से काम कर रही है, एक वह जो अपने से भिन्न, अपने ही समान बल वाली प्रकृति से बाधित होती है, और दूसरी वह जो बाधित नहीं होती । जब वह अन्य सम बल वाली प्रवृत्ति से बाधित होती है, तो उसका स्वरूप स्तम्भन में आ जाता है, तब यद्यपि प्रवृत्ति क्रिया तो है, परन्तु उस प्रवृत्ति के सम बल अन्य प्रवृत्ति से आवरण हो जाने के कारण उसे 'तमस्' शब्द से कहा जाता है । जैसे एक रस्सी को दोनों ओर से समान बल वाले दो पुरुष अपनी-अपनी ओर जब पूरी शक्ति से खींचते हैं, तो दोनों की शक्ति उसमें प्रतिक्षण लगी होने पर भी आवरण के कारण खींची जाने की क्रिया वहाँ प्रकट नहीं हो पाती, क्योंकि एक प्रवृति का दूसरी प्रवृत्ति से आवरण हो जाता है । रस्सी जहाँ की तहाँ दिखाई देती है । परन्तु जब इस प्रकार की कोई बाधा प्रवृत्ति में नहीं होती तब उसे 'रजस्' शब्द से कहा जाता है । इन दोनों ही अवस्थाओं में स्वरूपत: विरूद्ध होने के कारण ज्ञान शक्ति वहां भासित नहीं होती ।

विशुद्ध सत्त्व तो क्रिया के विजातीय ज्ञान का, सत्य का, जिसे सत् शब्द से कहा जाता है उसका अपना स्वरूप है । उससे विपरीत जो क्षोभ है वह तो उत्पन्न और विनष्ट होने के क्रम का रूप धरे, जो असत् कहलाती है उसका अपना रूप है । यदि अणुमात्र भी क्षोभ का अनुवर्तन है तब विशुद्ध सत्त्व वहाँ नहीं है । तथापि जहाँ निवृत्ति की ओर बढ़ने वाली प्रवृत्ति है वहाँ मलिन अवस्था वाला सत्त्व आसीन

होता है । जैसे उग्र प्रकाश और मलिन प्रकाश के तेज की गति में फर्क रहता है, जैसे तीव्र वायु और धीमी वायु की गति में भेद रहता है वैसे ही विशुद्ध सत्त्व और मलिन सत्त्व की स्थिति में समझा जा सकता है ।

पुरुष

इस प्रकार ज्ञान शक्ति जो 'पुरुष' इस संज्ञा से भी दर्शन व्यवहार में कही गई है उसके स्वभाव या प्रकृति का स्वरूप तीन प्रकार का निर्धारित हुआ एक सत्त्वरूप, दूसरा क्षोभ रूप और तीसरा तमो रूप । तीनों में ही क्षोभ रूप विद्यमान है इसलिए एक मात्र क्षोभ रूप भी ज्ञान रूप-पुरुष की प्रकृति मानी जा सकती है ।

सांख्यकारिका कहती है—

"यह सृष्टि ऊपर की ओर सत्त्व गुण की विशालता रखती है, जड़ में तमो गुण व्याप्त है, और मध्य में ब्रह्मा से घास तक रजोगुण छाया हुआ है"

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालास्तमोविशालस्तु मूलतः सर्गः

मध्ये रजो विशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः । (सांख्यकारिका)

सत्त्व विशाल सर्ग में ज्ञानशक्ति अंश या अणुमात्र में आवृत होकर भी प्रकाशित है, रजोविशाल सर्ग मे ज्ञान शक्ति आवृत होकर भी प्रकाशित रहती है, यह रजो विशाल सर्ग ही वस्तुतः सारा संसार है, जिसमें क्रिया शक्ति और ज्ञान शक्ति का अनुभवकर्ता भी निरन्तर साथ है । इसके भेद इतने अधिक हैं कि जिनकी गणना करना असंभव है । यहाँ क्रिया शक्ति अति प्रबल होने पर भी ज्ञान शक्ति और उसका सहभाव अर्थात् जागृत भाव की समस्त संभावनाओं से भरे हैं । अब आती है तमो विशाल सर्ग की पहचान, उसको मूल सर्ग कहा गया है । वही जड़ है सबसे नीचे होती है । जड़ वह भूमि है,पर्वत है, जल है, पर्यावरण है यह मूलतः सर्ग है जो तमो विशाल है । जिसमें सप्त लोकों में पाताल की गणना भी आती है और उस तमोविशालसर्ग का विकास भी सात लोकों में फैला है । पाताल में भी सात प्रखण्ड है अतल, वितल, सुतल आदि । यहाँ ज्ञान शक्ति अत्यन्त मन्द और क्रिया शक्ति अत्यन्त प्रकट होकर प्रायः मूर्छित अवस्था में पसरी हुई रहती है । इसे सामान्यतया जड़ जगत् कहा जाता है । गुण के आधार की गणना के साथ ही समस्त

ज्ञात विश्व को दो रूपों में प्रारम्भ से ही प्रकट किया जाता रहा है, वह है जड़ और चेतन, अनेक पर्याय हैं इसके जड़जंगम, अगजग आदि ।

दर्शन शास्त्रों के या प्रकृति विज्ञान के आचार्यों ने यहाँ यह भी प्रकट कर दिया है कि हम सभी इसी रजो विशाल सर्ग के घटक हैं । इसीलिए इस रजो विशाल सर्ग के प्रथम तीन भेदों को हमें पहले ही समझ लेना होगा । हम अपनी दुनियाँ में धातुओं को देख रहे हैं । वहीं जो ज्ञान शक्ति है वह उन धातुओं की तमो रूपिणी प्रकृति से ढंकी हुई है । उनमें भी जो मूल हैं, जड़ है वह क्षोभ रूपिणी प्रकृति से आवृत्त है और ज्ञान शक्ति का जो अंश सत्त्व स्वरूपिणी प्रकृति से आवृत्त है, वह जीव है चेतन है, दर्शक है । रजो विशाल सर्ग में इन्हीं तीन भेदों के दर्शन हो रहे हैं ।

इनमें रजो गुण और तमो गुण मे प्रवृत्ति के स्वरूप की विशेषता होने से वह ज्ञान का आवरण करने का स्वरूप रखती है अत: उसे तमो गुण प्रधान कहा जता है । इसीलिए तमो गुण की प्रधानता से ढंकी हुई ज्ञान शक्ति को जड़ रूप से पहचाना गया है । जहां ज्ञान शक्ति के आवरण में सत्त्व गुण, रज और तम से मिश्रित होकर अथवा मलिन होकर भी प्रधान बना रहता है उससे ढंकी हुई ज्ञान शक्ति चेतन कही जाती है । यही कारण है कि जहां तमो गुण की प्रधानता वाली क्रिया शक्ति के आवरण में ज्ञान शक्ति तिरोहित होती हुई सी प्रतीत हो रही है उसी में 'जड़' शब्द का व्यवहार होता है । ज्ञान शक्ति का स्वरूप ज्ञानेन्द्रियों की सत्ता में प्रकाशित होता है, जहां ज्ञानेन्द्रियां नहीं हैं वहां ज्ञान शक्ति का स्वरूप तिरोहित या अप्रकट रहता है, इसीलिए आचार्यों ने कहा है—

"सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्" इन्द्रिय वाला पदार्थ चेतन और इन्द्रिय रहित अचेतन या जड़ कहा जाता है । जिन द्रव्यों में इन्द्रियों का विकास नहीं हुआ, अतएव जो जड़ है, वहां ज्ञान शक्ति है ही नहीं ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि उन्हीं जड़ पदार्थों के अन्तर्गत जो क्षोभ है वह मनोवृत्ति रूपिणी क्रिया से जब विपरिणाम में आता है तब पुन: उन जड़ पदार्थों में भी ज्ञान शक्ति उद्भूत होती देखी जाती है । इसी रहस्य को प्रकाशित करने वाले "श्रृणोत ग्रावाण:" (पत्थरो सुनो) "ऋण्वन्त्वाप:" (जल सुनो) "स्वधिते मैनं हिंसी:" (हे छुरे, इसकी हिंसा मत

करना) इस प्रकार के शब्दों से जिनके द्वारा किसी चेतन को ही सम्बोधन करना उचित होता है, उन वाक्यों से बिना किसी शंका के महर्षियों ने व्यवहार किया है। लोक व्यवहार में भी इसके उदाहरण देखिए—

रे पाद, न व्रजसि किं भगवत्प्रदेशं
रे हस्त, न स्पृशसि किं भगवत्प्रपन्नम्।
रे नेत्र, पश्यसि न किं भगवद्विभूतिं
रे चित्त, न स्मरसि किं भगवद्गुणौघम्॥

यहां पैर, हाथ, नेत्र, चित्त जो जड़ है, उन्हें चेतन के रूप में सम्बोधित किया गया है। इन वाक्यों में पैर आदि में व्याप्त जो कार्य सम्पादन करने वाली आत्मशक्ति है, उन शक्तियों का ध्यान करके उन सभी शक्तियों से सम्पन्न जो देहात्मा है उसी से अनुरोध किया जा रहा है न कि पैर, हाथ आदि को सम्बोधित किया जा रहा है क्योंकि पृथक्-पृथक् हाथ पैर आदि तो जड़ के रूप में ही प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार"श्रृणोत ग्रावाण:" "स्वाधिते मैनं हिंसी:" इत्यादि वाक्यों से पत्थर आदि में व्याप्त रूप से कर्म करने वाली चैतन्य शक्ति ही अनुरोध या प्रार्थना का विषय बनती है उसके द्वारा उन-उन समस्त शक्तियों से सम्पन्न विश्वात्मा से ही अनुरोध या प्रार्थना की जा रही है, यह स्पष्ट हो जाता है।

इसलिए जब एक देह में एक आत्मा या चेतना को स्वीकार करने पर भी पैर, हाथ आदि को भिन्न-भिन्न रूप से सम्बोधन करने का व्यवहार वक्ता की प्रवृत्ति की विचित्रता के कारण युक्ति संगत हो जाता है उसी प्रकार-'श्रृणोत ग्रावाण:, पत्थरों सुनो' इत्यादि व्यवहार भी हुए हैं। यह कहना कि पुराने ऋषियों ने ईश्वर को एक नहीं अनेक माना था, सर्वथा अनुचित है भ्रान्त धारणा है।

कुछ विचारकों ने ऐसा प्रकट किया है कि प्रारम्भ में ज्ञान की कमी होने से अग्नि, वायु, सूर्य, पर्जन्य (मेघ) इन्द्र आदि जड़ प्रकृति की उपासना ऋषियों में चलती रही। जब धीरे-धीरे ज्ञान बढ़ा तब एक ही आत्मा की बुद्धि या ज्ञान फैला, इसलिए इस एक आत्मा के ज्ञान को प्रकट करने वाला 'उपनिषद्' का अंश बाद में निर्मित हुआ। यह विचार सम्पूर्ण वेद का मर्म समझने वाले तथा वेद के तत्त्व चिन्तन की

आद्योपान्त विवेचना में निष्णात आर्य विद्वानों के लिए विचार कोटि में नहीं पहुंच सकता । वेद के संहिता भाग में ही—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्चभाव्यम्

जो हो चुका और जो होगा, वह पुरुष ही है ।

तमेकं सन्तं बहुधा वदन्ति

वह एक ही है, उसे बहुधा कहते हैं—

इस प्रकार अनेकानेक सन्दर्भों में अनेक आत्मा के रूप में प्रकाशित इन अर्थों की एकात्मता का कथन किया गया है । उपनिषदों में भी तेज-जल-अन्न आदि प्राकृतिक पदार्थों की अनेकात्मकता देवों के रूप में बताई गई हैं । इसलिए ज्ञान की कमी के कारण अग्नि, वायु आदि जड़ तत्त्वों की उपासना यहां प्रतिपादित नहीं है अपितु ज्ञान की प्रबलता के कारण सर्वत्र चैतन्य शक्ति का समन्वय देखने वाले ऋषियों की चैतन्य घन की उपासना ही पहले एक-एक अंश में तथा आगे सर्व विशिष्ट में प्रवृत्त हुई यह स्पष्ट हो जाता है । सभी मन्त्र भाग एक ही धर्म रूपी अर्थ में अपनी सामान्य और विशेष रूपी उपासनाओं से समन्वित हो रहे हैं ऐसा समझना आवश्यक और अनिवार्य हो उठता है ।

अल्पज्ञता दर्शन

जो अत्यन्त अल्पज्ञ होने पर भी सर्वज्ञ होने का दम्भ धारण करते हुए वेदों का अर्थ करने में लग जाते हैं, या किसी भी बात के एक हिस्से, अंशमात्र को जानकर यह दिखाने लगते हैं, कि वे सर्वज्ञ हैं, ऐसे लोगों की यह विवशता होती है कि वे अपने अल्प ज्ञान के आधार पर अपने अल्पज्ञान से बाहर के शब्दों को और उनके अर्थों को अपने अल्पज्ञान की परिधि में लेने के लिए, उसका विभाजन करने लगते हैं। क्योंकि समग्र ज्ञान उनकी अल्पज्ञान परिधि में समा नहीं सकता और समग्रज्ञान के प्रति अपना अज्ञान प्रकट करना या स्वीकार करना उनके दंभ के विरुद्ध पड़ता है। इसलिए वे अखण्ड और समग्रज्ञान को देश काल पात्र आदि के खण्डों में अपनी मति से विभक्त करते चले जाते हैं और इस प्रकार उस समग्रज्ञान के अभाव में एक अज्ञानात्मक विश्व की सृष्टि होती चली जाती है। इस अज्ञान विस्तार का कारण होती है साधन सम्पन्नता। यदि आपके पास अपार वैभव है तो आप अपने नितान्त अल्पज्ञान को अपनी मति कल्पनाओं में साधनों द्वारा इतना फैला देंगे कि वही मूल ज्ञान या सर्वज्ञ ज्ञान के रूप में प्रकट होकर वस्तुत: जो ज्ञान की समग्रता है उससे विमुख ही नहीं कर देगा अपितु उसे काल्पनिक और मिथ्या भी सिद्ध कर देगा। तभी तो उस अल्पज्ञान से उत्पादित साधन सम्पन्न नवीन संरचना पद्धतियों की ओर ध्यान आकृष्ट कर स्वयं को महामहिम ज्ञान मण्डित बनाने का श्रेय प्राप्त किया जा सकेगा, अन्यथा यदि समग्रज्ञान की छवि प्रकाशित करने वाला प्रदीप्त हो उठा तो यह अल्पज्ञान जनित विश्व बच्चों की क्रीड़ा मात्र बनकर सामने आ जायेगी जैसा कि स्वामी व़िवेकानन्द के द्वारा संसार में प्रदर्शित किया गया।

मन्त्र और उपनिषद्

वेद मन्त्र कह रहा है—यह पुरुष ही है जो कुछ हुआ और जो होने वाला है—

पुरुष ऐवदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्,

उसी एक की सत्ता को अनेक कहते हैं।

ऋषिगण

कमेकं सन्तं बहुधा वदन्ति

इन वैदिक सन्दर्भों में अनेक आत्मा रूप से कहे गये इन सभी अर्थों का एक ही आत्मा के रूप में प्रतिपादन हुआ है।

उपनिषदों में भी तेज ऋषि दृष्टि, जल, अन्न आदि प्राकृतिक पदार्थों की अनेकात्मकता दिखाकर फिर उनका एक ही अभिमानी देवता बतलाया गया इसलिए इस बात को सर्वथा दूर कर देना चाहिए कि प्रारम्भ में ऋषियों ने ज्ञान की कमी के कारण जड़ की उपासना, अराधना की और आगे ज्ञान का विकास होने पर एकात्मभाव की ओर उनका ध्यान गया यह सारी कल्पना प्राचीनों की ओर हेय दृष्टि से देखने की उपज है। प्रत्युत वेद सन्दर्भों के सावधान और श्रद्धापूर्वक समालोचन समालोडन से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि प्रारम्भ से ही ऋषियों की दृष्टि पूर्णज्ञानमय थी तथा उस दृष्टि में सर्वत्र चैतन्य शक्ति ही व्याप्त देखी गई थी। पहले उसे पृथक्-पृथक् दिखाते हुए, क्रमशः उसका सर्वव्यापकत्व स्पष्ट शब्दों में घोषित कर दिया गया। यदि ऐसा न कर प्रारम्भ में ही सर्वत्र एक चैतन्य शक्ति का ही केवल विवरण किया गया होता तो समझाने में उससे सहायता नहीं मिल पाती। समझाने की प्रक्रिया खण्ड-खण्ड में चैतन्य के प्रतिपादन से प्रारम्भ की जाती है। और अन्त में सर्वत्र उस चैतन्य की व्याप्ति का दर्शन कराया जाता है। इस विवरण से पहले ऋषियों में अज्ञान के कारण जड़ देव पूजन चलता था बाद में चैतन्य पूजन विकसित हुआ, यह अपने अज्ञान को ही प्रकट करने वाला कथन है। वेद मन्त्रों के इस प्रकार के सभी सन्दर्भों में एक मात्र धर्म रूप अर्थ को बतलाने का तात्पर्य अन्तर्निविष्ट है जिसका प्रतिपादन सभी को समझाने की दृष्टि से पहले विशिष्ट और फिर सामान्य रूपों के भी दर्शनों से प्रतिफलित होता है।

क्रियाशक्ति

अब क्रिया शक्ति की बात लें । चेतन में भी यह क्रिया शक्ति दो प्रकार से आ रही है । एक वह है जिसका ज्ञान के स्वरूप से निकट का सन्दर्भ बन रहा है । यह ज्ञानेन्द्रियों को प्रेरित करने वाली है । इसके क्रिया कलाप का फल होता है, ज्ञान होना । दूसरा प्रकार है क्रिया का चेतन से जुड़ने का । इस दूसरे प्रकार में क्रिया शक्ति ज्ञान या चेतना से कुछ दूर का सम्बन्ध रखती है । इसकी प्रेरणा कर्मेन्द्रियों में होती है, और उसकी प्रेरणा का फल होता है विभिन्न क्रिया कलाप । कान, त्वचा, आँख, जीभ और नाक ज्ञानेन्द्रियां हैं । वाक्, हाथ, पैर, मूत्रेन्द्रिय और पायु ये सब कर्मेन्द्रियां हैं । इन सबके अधिष्ठाता देवता भी दो हैं, मन और प्राण ।

प्राण का सहयोग लेने वाले मन के अधिकार में ज्ञानेन्द्रिय और प्राण होते हैं । इसी प्रकार मन के सहयोग से प्राण के अधिकार में रहने वाली कर्मेन्द्रियां और प्राण स्वयं हैं । इसीलिए मन को साथ मिलाकर एकादश इन्द्रियाँ कही जातीं हैं और एकादश प्राण पृथक् गणना में आते हैं प्राण की प्रधानता रखकर इन्द्रियों की गणना करने पर मन में भी क्रिया शक्ति दो प्रकार से अपना रूप लेती है । एक वह है जिसे मति बुद्धि आदि कहा जाता है, जिसमें ज्ञान की प्रधानता है । मन में क्रिया का दूसरा रूप क्रिया प्रधान होता है, जिसे कृतिप्रधान कहा जाता है । मति भी दो प्रकार की है, ज्ञान के सम्बन्ध के कारण वैराग्य और क्रिया के सम्बन्ध से होना । अन्तिम वैराग्य भी दो प्रकार का है, एक वह जो रास्ते में चल रहा है, तथा वह जिसका वशीकार हो गया है । इस प्रकार संसार में ज्ञान और क्रिया का फैलाव हो रहा है ।

जहाँ क्रिया की गौणता और ज्ञान की प्रधानता होती है, वहां उस अवस्था को ब्रह्म कहते हुए "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" "यह सभी कुछ ब्रह्म ही है" यह कहा जाता रहा है जहां क्रिया की प्रधानता होती है उसे कर्म कहते हुए "कर्मैवेदं सर्वम्", यह सब कुछ कर्म ही है, यह कहने में आता रहा है ।

गीता में आता है—

कर्मण्य च कर्म यः पश्येदकर्माणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।।

जो कर्म में अकर्म (ज्ञान या ब्रह्म) को देखे और जो अकर्म (ज्ञान या ब्रह्म) में कर्म को देखे, मनुष्यों में वही बुद्धिमान् है और वही कर्म को सम्पूर्ण रूप से सम्पादित करने वाला होता है ।

"अग्नि ब्रह्म है, सोम धर्म है, यह जगत् ज्ञान के आधार पर अग्निसोमात्मक है"

ज्ञान शक्ति जब उद्भुत अवस्था में आती है तब यह तीन स्थानों में विज्ञान का प्रकाश फैलाती है, विषयों में, संस्कारों में तथा शब्द समूह में या तो स्वत: या अपने द्वारा व्याप्त मन, बुद्धि में इन्द्रियों के द्वारा सामने लाए गए किसी विषय में जहां विज्ञान का प्रकाश फैलता है, वह एक आधार होता है ।

उन-उन विषयों के अनुभव के द्वारा आत्मा में कोई एक संस्कार बन जाता है । इसी कारण उस अनुभव कर्ता को उस विषय के समीप न होने पर भी वह विज्ञान भासित हुआ करता है, यही दूसरा अधिष्ठान है ।

जब विषय भी समीप नहीं हैं और उस प्रकार का कोई संस्कार भी नहीं है तब भी शब्द सुनने पर कोई ज्ञान होता है, वह तीसरा अधिष्ठान या आधार है ।

इन तीन अधिष्ठान या आधारों के अतिरिक्त अन्यत्र कोई ज्ञान प्रकाशित नहीं होता । इन तीन आधारों के अतिरिक्त ज्ञान के एक अन्य आधार को प्रस्तुत करने वाला एक विचार प्रवाह या पूर्ण पक्ष यहाँ आ रहा है कि हम हाथ पकड़कर उस हाथ से सम्बन्धित मनुष्य को जान जाते हैं, धुएँ को दूर से ही देखकर उससे सम्बन्ध रखने वाली आग की जानकारी आग को उस समय बिना सामने से देखे भी हमें हो रही है । ठीक इसी तरह कार्य और कारण को सामने देखकर बीते हुए वैसे कार्य और कारण, (जो सैकड़ों हज़ारों लाखों साल पहले के हैं) और भविष्य में (दशक, शताब्दी, सहस्राब्दियों में आगे के समय में) वही कार्य और कारण थे और होंगे जो अभी हमारे सामने हैं, इस प्रकार अतीत और अनागत अशब्द, अप्रत्यक्ष और संसार में भी न आने वाले, अत: ज्ञान के उक्त तीनों आधारों से भिन्न ज्ञान के इस एक अन्य अधिष्ठान या आधार को स्वीकार करना उचित होगा । इन्द्रियों के द्वारा सामने लाए गए विषयों द्वारा जो ज्ञान का स्फुरण है, वह या तो साक्षात् होता है या ऐसे ही किसी अन्य इन्द्रिय सन्निकर्ष को याद करा देता है जिससे भूत और

भविष्य ज्ञान भी प्रकाशित हो जाता है । अत: कार्य कारण के भूत और भविष्य ज्ञान के रूप का निर्वाह करने के लिए ज्ञान के चौथे आधार को अलग करके जानना जरूरी नहीं क्योंकि वह तो आत्मा मन बुद्धि अहंकार के सामने इन्द्रियों द्वारा लाए गए विषय रूपी ज्ञान के आधार के भीतर ही आ जाता है । इसकी तत्काल की परिधि या व्याप्ति को हम भूत और भविष्य तक ले जाते हैं ।

इस पर सवाल फिर खड़ा हो जाता है कि ऐसी स्थिति में तो ज्ञान के तीसरे आधार शब्द को भी न मानना या समझना समझाना उचित है क्योंकि वह भी तो कान से ही सुना जाता है । कान एक इन्द्रिय ही है । परम्परा की बात तो सामने के प्रत्यक्ष को जैसे भूत और भविष्य के प्रत्यक्ष के लिए अभी कहा गया वैसे ही किसी का भी अतीत में सुना गया शब्द आज परम्परा से हमारे समीप है तो वह भी प्रथम कोटि का ही ज्ञान का आधार हुआ उसके लिए ज्ञान का तीसरा आधार क्यों माना जा रहा है । इस घुमाव से इस तरह निपटना होगा कि शब्द को अलग से ज्ञान का आधार न मानकर आत्मा मन बुद्धि अहंकार के समीप इन्द्रियों द्वारा लाए गए विषयों के अधिष्ठान या आधार में प्रकाशित होने वाला ज्ञान भूत और भविष्य में भी उसी इन्द्रिय सम्बन्धित ज्ञान को लगायेगा । यदि अतीत के शब्द याद आयेंगे तो वे कानों से सुनने का ही ज्ञान करा पायेंगे, अपने अर्थों का ज्ञान नहीं करा पायेंगे क्योंकि अर्थ सुने नहीं जा सकते । जिन शब्दों से हमें केवल अतीत के सुनने मात्र का ज्ञान न होकर उनके अर्थों का भी ज्ञान हो रहा है, वे शब्द विषय रूपी ज्ञान के आधार के अन्तर्गत नहीं आ सकते क्योंकि वे सुनने मात्र का ही ज्ञान नहीं अपितु अपने अर्थ का भी ज्ञान करा रहे हैं । यही कारण है कि शब्द को ज्ञान का तीसरा अधिष्ठान माना गया है । शब्द जन्य ज्ञान विषयोत्पन्न या वैषयिक तब माना जाता है जब उसका सम्बन्ध केवल कानों से ही रह गया । परन्तु जिन शब्दों को ज्ञान के तीसरे अधिष्ठान के रूप में माना जा रहा है वे केवल कान से ही ग्रहण करने योग्य नहीं अपितु उनका अर्थ जो ज्ञान रूप है, वह ग्राह्य है । अत: वैषयिक शब्द ज्ञान और ज्ञान के तीसरे अधिष्ठान के रूप शब्द में ज्ञान या अर्थ को सम्मिलित करने के कारण अन्तर है । इसीलिए शब्द ज्ञान के तीसरे अधिष्ठान या आधार बनते हैं । यही कारण है महर्षि कणाद ने वैषयिक शब्द और ज्ञानाधिष्ठान भूत शब्द में अन्तर करते हुए

सूत्र निर्मित किया "शब्द और अर्थ परस्पर असम्बद्ध हैं। शब्द के द्वारा अर्थ का ज्ञान समय या शक्ति ज्ञान सापेक्ष होता है।"

ब्रह्म, विद्या, वेद—

भिन्न देश में और भिन्न काल में कर्णेन्द्रिय से गृहीत शब्द से भिन्न देश और भिन्न काल में उपस्थित विषय में जो साक्षात् श्रवण की योग्यता नहीं रखता अपितु अनुश्रुत हो रहा है ऐसे शब्दों से जो ज्ञान हो रहा है, वह ज्ञान वैषयिक और संस्कार ज्ञान से अलग होता है। इसलिए जितना विज्ञान है वह तीन स्थानों से ही आ रहा है, विषयों से, संस्कारों से और शब्दों से। तीन स्थानों से आने वाले इस विज्ञान के आधार विषय संस्कार और शब्द के तीन स्वतन्त्र नाम वेद सन्दर्भों में हैं-ब्रह्म, विद्या, वेद। इन्द्रियों और विषयों के संयोग से आने वाला ज्ञान 'ब्रह्म' कहा गया, संस्कारों से आने वाले ज्ञान को विद्या कहा गया और शब्दों से आने वाले ज्ञान को वेद नाम दिया गया।

जब ज्ञान के विषय रूपी आधार की प्रधानता से आपेक्ष की जाती है या उस रूप में कहने की आवश्यकता समझी जाती है तो उसे ब्रह्म नाम दिया जाता है। जब विषय की आधारता की अपेक्षा के स्थान पर संस्कार का आधार बनाने वाले विज्ञान का कथन हुआ तो वहां की संज्ञा विद्या हुई। जब आधार के रूप में शब्द को अंगीकृत करने वाले विज्ञान को बतलाने की अपेक्षा हुई तो वहां वेद शब्द का प्रयोग किया गया।

अब यह स्पष्ट हो गया कि 'ब्रह्म', 'विद्या' और 'वेद' ये तीनों शब्द अपनी आधार रूप उपाधियों के कारण भिन्न अर्थों को प्रकट करने पर भी विज्ञान के स्वरूप मात्र की जब अपेक्षा की जाती है तब विज्ञान को प्रकट करने के कारण एकार्थक ही हो जाते हैं।

शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रन्थों का पर्यालोचन करने पर ब्रह्म, विद्या, वेद इन शब्दों के एक दूसरे के अर्थ में प्रयोगों को देखते हुए उक्त रहस्य, कि विज्ञान को प्रकट करने की दृष्टि से ये तीनों शब्द एकार्थक ही हैं, स्पष्ट भासित हो उठता है।

यह सारा ही विषय समूह विज्ञानात्मक है, इसकी संज्ञा ब्रह्म है, इसकी व्याख्या या समझाने के विस्तार की दृष्टि से कहने पर भी इसे तीन प्रकार या

भेदों में समझना होगा पहले जाग्रत अवस्था में स्थित स्थूल शरीर के स्वामी के रूप में, भव में आने वाले विश्व या बिराज नाम के स्थूल रूप में यह रूप है । दूसरा स्वप्न अवस्था के स्वामी सूक्ष्म शरीर के अधिपति तैजस् तत्त्व के हिरण्यगर्भ नाम वाले सूक्ष्म रूप में । तीसरा-सुषुप्ति अवस्था के स्वामी कारण शरीर के नियामक प्राज्ञ नाम के या सर्वज्ञ कारण के रूप में इसका तीसरा भेद है । हम स्थूल, सूक्ष्म और कारण के अतिरिक्त किसी भी विषय को नहीं देखते । उदाहरण के रूप में घर स्थूल है, पृथ्वी सूक्ष्म है, अग्नि या सोम कारण हैं । दूसरा उदाहरण देखें, स्थूल है, आप सूक्ष्म है, सोम और वरुण कारण हैं ।

अब यह देख लेना चाहिए कि जब ब्रह्म की विवेचना होगी तब इन सभी विषयों का भी सन्निवेश उसमें हो जायेगा । ब्रह्म के इस विवरण के बाद अब विद्या का भी रूप देख लीजिए कि वह भी तीन ही रूपों में अपने को प्रकट कर रही है ।

आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक ये विद्या रूपों की प्रथम संज्ञाएं हैं ।

जो कुछ विषय के रूप में हमारे सामने आस-पास ऊपर नीचे चारों ओर फैला हुआ है, इन सबकी एक संज्ञा है भूत । भू धातु से बना भूत शब्द उत्पन्न हुए इस अर्थ को दिखाता हुआ पांच की उत्पत्ति का संकेत दे रहा है । जो भूत शब्द से बोधित हो रहे हैं उनकी पहचान के लिए समझना होगा कि अनेक मूल तत्त्वों के परस्पर मिश्रण से जो व्यवहार में आने लायक रूप बना लें वही भूत कहा गया । इन भूतों के जो मूल तत्त्व है उन का नाम है देव । ये देव नाम के मूल तत्त्व ही हैं जिनके निरन्तर चलने वाले मिथुन धर्म सहभाव, तथा युद्ध धर्म शत्रु भाव से यह सारा जगत् विस्तृत होता हुआ अनुभव में आ रहा है । विलक्षण बुद्धि के धनी महर्षियों के द्वारा देखे गए मन्त्रों में यह प्रतिज्ञापूर्वक समझा दिया गया है कि एक-एक भौतिक वस्तु में परस्पर विलक्षण शक्ति वाले बहुत से देव विराजते हैं ।

स जातु जायते सर्वाभ्य एव देवताभ्यः

यह पदार्थ बना और अन्य बन रहे हैं सभी देवताओं से उन देवताओं की यथार्थता तथा शक्तियों का जब तक ज्ञान न हो जाये तब तक भौतिक वस्तुओं का सम्यक् ज्ञान होना सम्भव नहीं है ऐसा सोचते हुए महर्षिगण पहले से आधिदेव

विज्ञान को समझाने में लगते आए हैं । देव स्वरूप स्पष्ट होने पर उनसे बनी वस्तुओं का स्वरूप स्पष्ट होगा और तब सारा संसार समझ में आ जायेगा । देव विवेचन में ३३ सोमपायी देवगण हैं जिनमें प्रधान हैं अग्नि, इन्द्र, आदित्य । ९९ वें प्रकार के असुर हैं, आठ प्रकार के पितर हैं, सात ऋषि हैं, २७ प्रकार के गन्धर्व हैं, ये सब जगत् के समस्त पदार्थों सहभाव या मिथुन धर्म से तथा शत्रु भाव या युद्ध धर्म से बार-बार, पुनः पुनः व्यवहार में प्रकट होते हुए जगत् के संचालक बने हुए हैं । आचार्य यास्क ने अपने निरुक्त नामक ग्रन्थ के दैवतकाण्ड में यह रहस्य प्रकट कर दिया है कि महर्षिगण इनमें समस्त विज्ञान शक्ति का ही विस्तार देखते हुए मन्त्रों में तीन प्रकार के अर्थों को एक साथ सम्बोधित कर रहे हैं या पृथक्-पृथक् ये सम्बोधन हो रहे हैं वे हैं परोक्ष, प्रत्यक्ष और आध्यात्मिक । पहले समझना होता है कि जो कुछ भी है यह सारा कुछ ब्रह्म ही है । उसके चार पद या स्थान हैं, उनके नाम हैं-'परब्रह्म,' 'प्रत्यग् ब्रह्म', 'अन्वग् ब्रह्म' तथा पराग् ब्रह्म । जब ब्रह्म केवल अपने स्वरूप में हैं उसका गुणों से कोई संसर्ग नहीं हैं तब उसको परब्रह्म नाम से समझा गया । उससे भिन्न सत्त्व गुण के शुद्ध स्वरूप से संसर्गित, अहम्, मैं कहकर समझा हुआ ब्रह्म का भेद है वह उत्तम पुरुष से "मैं" से संयुक्त है, अतः इसी कारण इसकी "आध्यात्मिक" संज्ञा है । मलिन सत्त्व के प्रभाव में आया हुआ, जिसे 'त्वम्' तुम, आप आदि शब्दों से सम्बोधित किया जा रहा है, जिसे प्रत्यग् ब्रह्म शब्द से व्यवहृत किया गया है वह अन्वग् ब्रह्म है । वह शब्द प्रयोग में मध्यम पुरुष के साथ प्रयोग में आने के कारण प्रत्यक्ष कहकर व्यवहार किया गया है । उसे प्रत्यक्ष कहा गया है । ब्रह्म का वह रूप जो रज और तम से आवृत है जिसके लिए अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है, वह पराग् ब्रह्म है । वह प्रथम पुरुष के साथ योग रखता है, अतः उसी अनुरोध से उसका परोक्ष नाम से व्यवहार हो रहा है । यही रहस्य है कि महर्षियों के दृष्ट मन्त्रों में शब्द व्यवहार जड़ और चेतन का भेद न करते हुए तीन प्रकार का है, आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक । इस प्रकार के नदियों से, पत्थरों से मेघों से वार्ता आदि व्यवहार इन्हीं दृष्टियों से वर्णित हैं । ऐसे व्यवहारों को देख लेने भर से संकुचित दृष्टि वाले महर्षि जड़ोपासक कहे जाते हैं, तो यह बिना सोचे समझे कैसे स्वीकार किया जा सकता है । महर्षियों ने पहले आधिदैविक विज्ञान समझाया । वे महर्षि आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दृष्टियों में

पारंगत थे । आधिदैविक पक्ष से विवरण का प्रारम्भ करना यह समझने में सौकर्य या आसानी के लिए हैं । वे अलग-अलग पक्ष से व्याख्या करने को प्रस्तुत होने पर पहले आधिदैविक पक्ष को सुकरता या आसानी के लिए पकड़ते हैं । इस प्रकार विद्यार्थियों की बुद्धि को आधिदैवत पक्ष में परिपक्व बनाते हुए आत्मा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, भूमि तथा तेज, अप अन्न आदि भौतिक द्रव्यों का ज्ञान कराया गया है । परन्तु जितने भी भौतिक पदार्थ या तत्त्व हैं वे सभी मूल तत्त्वों से सम्बद्ध हैं, सर्वदा यह दिखाते हुए रथ, अश्व, शस्त्र, पक्षी, वृक्ष, पर्वत, नदी आदि भूलोक में संस्थित वस्तुओं में देव वाचक शब्दों का व्यवहार किया है । समस्त पृथ्वी के पदार्थ अग्नि प्रधान हैं और अग्नि ही भूमि रूपी संस्थान का प्रधान देव है । जिन वस्तुओं का विवरण प्रारम्भ किया गया उन-उन पदार्थों को अपने अधिकार में लेने वाले देवों के तरतम भाव की, अधिक न्यूनभाव की ओर दृष्टि ले जाते हुए किसी पदार्थ की सोम प्रधानता के कारण सौम्य कहा गया, अग्नि की प्रधानता के कारण कहीं आग्नेय व्यवहार हुआ तथा कहीं वरुण या जल की प्रधानता दिखाने के उद्देश्य से उन पदार्थों को वरुण कहा गया । भौतिक पदार्थों के लिए इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग भी आर्षवाङ्मय में उपलब्ध है । ये भौतिक पदार्थ संख्या में अनन्त हैं तथा प्रत्येक भूत तत्त्व में उनकी शक्ति और उनकी संरचना में विलक्षणताएं दृष्टिगोचर होती है । परिणामत: एक-एक भौतिक पदार्थ को आधार बनाकर विद्याओं की सीमा बनाते चले जाने पर विद्याएं अपनी अनन्तता को प्रकट करती हैं । उन्हीं विद्याओं का संकेत या दिग्दर्शन मात्र अथर्ववेद आदि संहिता भाग में संक्षिप्त रीति से दिखाया गया, इस प्रकार दिशा मात्र का दर्शन करा देने के उद्देश्य से आधिभौतिक विज्ञान का प्रदर्शन हुआ ।

इस प्रकार सभी पदार्थों का मौलिक तत्त्व तथा भौतिक तत्त्व के रूप में प्रस्तुतीकरण हुआ है । इन विवरणों में इन पदार्थों का परस्पर भेद प्रदर्शित किया गया है । यह इन पदार्थों का परस्पर भेद व्यवहार में ही प्राप्त होता है । जब हम व्यवहार में इन पदार्थों को लेते हैं तब भौतिक पदार्थ और मौलिक पदार्थ के भेद को जानकर ही ऐसा कर पाते हैं, परन्तु वस्तु दृष्टि या तत्त्व दृष्टि से इनमें कोई भेद नहीं है क्योंकि मूल तत्त्व तो सर्वत्र एक ही है । यही कारण है कि पदार्थों की भिन्नता

को पहले समझा देने के अनन्तर वेद वेत्ता महर्षिगण पारमार्थिक तत्त्व को प्रकाशित करने के लिए बाद में प्रवृत्त हुए।

आत्मा—

उदाहरण के लिए ऋषि ने देखा कि विशाल वन की आत्मा है अनन्त वृक्ष, वक्षों की आत्मा है उनके भीतर प्रवाहित होने वाला रस, उन रसों की आत्मा है सोम आदि देव तत्त्व और उनकी आत्मा है व्यापक ब्रह्म। आत्मा वही है जिसकी सत्ता से अन्य सत्तावान् बने, जिसके न रहने पर पदार्थ लुप्त हो जाय वही उसकी आत्मा कहलायेगी। यदि वृक्ष न होंगे तो वन नहीं होगा, यदि रस न होगा तो वृक्ष नहीं होंगे, यदि सोम न होगा तो रस न होगा, यदि ब्रह्म न होगा तो सोम आदि देव न होंगे।

कोई अलौकिक शक्ति है जिसके अधीन सभी रसादिभाव और सोम आदि देव एकत्रित होकर वृक्ष की आत्मा बनते हैं, उसी का नाम ब्रह्म है। इसी दृष्टि से समस्त चराचर का आत्मा ब्रह्म ही है, अतः परस्पर पदार्थों में तात्त्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं है। वह ब्रह्म विज्ञान शक्ति रूप है। अतः यह समस्त चराचरात्मक जगत् विज्ञानात्मा है। अतः सभी पदार्थों का आत्मा एक ही है, इसी पहचान को आध्यात्मिक विज्ञान कहा जाता है। यह वही भेद प्रक्रिया है जिसको समझ लेने पर विद्या आध्यात्मिक-आधिदैविक और आधिभौतिक, तीन प्रकार की सिद्ध हो जाती है। अब विद्या के इन आध्यात्मिक आदि तीनों गुणों को समझ लेने पर यह भी समझ लेना होगा कि वेद भी ऋक्, यजु, साम नाम के भेदों के साथ तीन प्रकार के हैं।

शब्द के आधार पर होने वाला विज्ञान वेद कहलाता है। विज्ञान का आधार बनने वाले ये शब्द पद्य, गद्य और गीति के भेद से तीन प्रकार के हैं। यही कारण है कि पद्यात्मक ऋक्, गद्यात्मक यजु और गानात्मक को सामवेद कहते हुए वेद शब्दों के तीन भेद कर दिए गए हैं।

अर्थ रूप वेद—

यह एक छिपी रहस्य की बात भी यहां ध्यान में ले लेनी होगी कि शब्द और उसकी सामूहिक या समूहबद्ध प्रस्तुतियों का गद्य, पद्य का विभाजन करके जैसे ऋक्, यजु और साम का अभिस्वरूप प्रकाशित किया गया उसी प्रकार अर्थ की दृष्टि से भी ऋक्, यजु और साम को समझ लेना उपयोगी होगा और वह इस प्रकार है कि संसार में जितना भी भूमि को अपना स्थान बनाने वाला आग्नेय अर्थ विस्तार है वह सारा ऋक् कहा जाता है, उसी भूमि स्थानीय आग्नेय अर्थों का महर्षियों ने पद्य शैली में प्रतिपादन करके इस बात को संकेतित किया है।

इसी प्रकार जितना भी लोक में भुव नामक लोक को आधार बनाने वाला वायवीय तत्त्व हैं, वह यजुर्वेद के द्वारा प्रतिपादित है। इसी प्रकार जितना जहां जो 'स्व' को आधार बनाने वाला आदित्य से समुत्पन्न अर्थ तत्त्व है वह समस्त अर्थ समूह साम कहा जाता है। उसी के प्रतिपादन या कथन का संकेत गानमय शैली की रचना से किया गया है। इस क्रम से समझने पर 'यजुष्' का स्वरूप यह बनता है कि हमारे जीवन व्यापी व्यवहार में भुव: स्थान में व्याप्त रहने वाला जो वायवीय तत्त्व है वह सारा यजु कहलाता है। उसके प्रतिपादन को संकेतित करने की शैली गद्य प्रधान है अत: यजुर्वेद की अमर निर्झरिणी भी गद्यमयी है। इस लोक में जहां-जहां जितना-जितना स्वर्ग स्थान सम्बद्ध है, आदित्यांश है, वह सारा साम है। उसके प्रतिपादन का संकेत गानमय प्रबन्ध से किया गया है और वही गान या साम आदित्यांश को संकेतित करता है।

इस प्रकार पद्यों का संग्रह ऋग्वेद है, उसका भू स्थान से सम्बन्ध होने से अग्नि आदि भू स्थानीय देवताओं के मन्त्र जो यज्ञ में होता के क्रियाकलापों के साथ उच्चरित होते हैं, परिगृहीत हुए। जितने गद्य प्रतीकित संदर्भ हैं वे सब यजुर्वेद में संग्रहीत हैं, इस यजुर्वेद में अन्तरिक्ष स्थान से सम्बद्ध वायु प्रधान देवों के मन्त्र जो यज्ञ में अध्वर्यु के क्रियाकलाप के प्रतिपादक हैं संगृहीत हुए। इस वेद में अन्तरिक्ष स्थान में विद्यमान इन्द्र आदि देवों का भी वायु शब्द से ही संकेत मिल रहा है। इसके उपरान्त जो अवशिष्ट गान के उपयोग में आने वाले मन्त्र हैं उनका संग्रह सामवेद कहलाया। उसका स्वलोक से सम्बद्ध आदित्य आदि देव समूह का

प्रतिपादन मुख्य विषय है । यह यज्ञ में उद्गाता के कर्मकलाप के उपयोग में लाए जाते हैं । इसी अभिप्राय से ऐतरेय ब्राह्मण तथा मनुस्मृति आदि में अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद तथा आदित्य से सामवेद की उत्पत्ति बतलाई गई है । अग्नि, वायु और रवि से ऋक्, यजु और साम की उत्पत्ति कहने का वही तात्पर्य है जो यह कहने का होगा कि रामायण की उत्पत्ति राम से हुई है । मन्त्राक्षर माला में जिन विषयों का कथन किया गया वे विषय ही उस अंश के जनक हुए । यही अग्नि, वायु और रवि या सूर्य से ऋक् यजु और साम की उत्पत्ति कहने का आशय ऐतरेय तथा मनु आदि का है । यह प्रक्रिया समझने पर अग्नि, वायु या इन्द्र तथा आदित्य से सम्बद्ध संसार के समस्त पदार्थ ऋक् यजु और साम कहे जाने की योग्यता रखते हैं । ऋक् यजु, साम ही वेद है, इसीलिए यह सारा ही दृश्यमान जगत् वेद शब्द से कहा जाता हैं, ऐसा कोई तत्त्व या वस्तु या पदार्थ नहीं ढूंढा जा सकेगा जो वेद का विषय न बनता हो, जैसे अग्नि, वायु या इन्द्र और आदित्य या सूर्य की अपनी स्थिति के लिए आवश्यकता का कथन करने वाले अर्थों के विषय का कथन ऋक्, यजु और साम शब्दों से कहे जाने से तथा ऋक्, यजु और साम को वेद कहने से तथा यह वेद शब्दों पर आधारित ज्ञान होने से वेद के कर्त्ता के विषय में तीन प्रकार के मत प्राप्त होते हैं । जब केवल विज्ञान मात्र को ध्यान में रखकर वेद शब्द का व्यवहार होगा, तो उसका वाच्य स्पष्टतया विज्ञान ही होगा और उसका कर्त्ता कोई हो ही नहीं सकता अत: विज्ञान मात्र को अपने अर्थ के रूप में प्रकाशित करने वाला वेद अकर्तृक है । उसका कोई कर्त्ता पुरुष नहीं, वह अपौरुषेय इसीलिए कहा जाता है कि किसी पुरुष को उसका कर्ता नहीं कहा जा सकता । अब दूसरा पक्ष वेद के निर्माता के पक्ष का यह आता है कि जब हम वेद से तात्पर्य ऋक् यजु और साम रूप विषयों से लेते हैं । जब वेद का अर्थ ऋक् विषय, यजु विषय और साम विषय है तब वेद का कर्ता ईश्वर को माना जाता है ।

अब तीसरा पक्ष है ऋक्, यजु सामात्मक शब्दों के मन्त्र रूपी छन्दोबद्ध गुम्फन के कर्त्ता होने का, उसके उत्तर में यही सिद्धांत है कि महर्षिगण ही उसके कर्त्ता हैं । इस प्रकार ब्रह्म, विद्या और वेद नाम के काल्पनिक भेदों को या औपाधिक भेदों को सामने रखकर वेदों के उन अर्थों से गर्भित रूपों को संक्षेप में बतलाया गया । साथ ही यह भी सुस्पष्ट तत्त्व यहाँ समझ लेने योग्य है कि वेद से तात्पर्य

जब विज्ञान मात्र या ज्ञान मात्र से होगा, तब ब्रह्म, विद्या और वेद शब्द समानार्थक अन्तर्गत सभी का समावेश हो जाता है। जिन भेदों को ब्रह्म के अन्तर्गत दिखाया गया वे सभी विद्या में भी होंगे वेद में भी होंगे। इसी प्रकार विद्या और वेद के भी सारे भेद अपने से भिन्न शेष दोनों के भी होंगे। यही कारण है कि संहिताओं और ब्राह्मणों के अर्थ रूप विषयों में एकाधिकरण या मिश्रण विद्यमान रहता है। उसी शब्द राशि से ब्रह्मरूप अर्थ प्रकट होगा, उसी से अग्नि वायु आदित्य रूप अर्थ प्रकट होगा और उसी से ऋषियों द्वारा जगत् कल्याणार्थ रूपी अर्थ भी प्रकाशित होने से वेद शब्दार्थ में साङ्कर्य की स्थिति है, इसीलिए वेदार्थ ग्रहण में भी एकाग्रता की अपेक्षा होती है।

इसी अभिप्राय से मनुस्मृति—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मसनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थ-मृग्यजुः सामलक्षणम्॥

अर्थात् यश की सिद्धि के लिए अग्नि, वायु और रवि से ऋक् अर्थात् यजु और साम ने इस सनातन तीन रूपवाले ब्रह्म का दोहन किया। यहाँ मनु ने ऋक्, यजु और साम नाम के तीन रूपों वाले ब्रह्म का निर्देश किया। अब शारीरिक, मानसिक, आत्मिक बल की साधना के उपायों को दिखाने के लिए कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड, ज्ञान काण्ड रूपों वाले तीन प्रकरणों के द्वारा सीमा बाँधते हुए, ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रणयन या कथन हुआ। इनमें कर्मकाण्ड में उन यज्ञ कर्मों का कथन है जो शरीर के प्रयत्नों से सम्पादित होने वाले हैं तथा जो सभी प्रकार के लौकिक फलों के प्रदाता बनते हैं। इस कर्ममय विषय का विस्तार श्रौत, स्मार्त तथा समयाचारिक इन तीन भेदों वाले कल्पों से किया गया। उपासना काण्ड में सर्वविध अलौकिक फलों के साधनों का निर्देश हुआ है जो मानसिक प्रयत्नों के द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।

ज्ञान काण्ड में अध्यात्मविद्या का कथन हुआ है। इस प्रकार सीमा बना-बना कर वेद की उपस्थापना समझ लेने के बाद यह आक्षेप निस्तेज हो उठता है कि ऋग्वेद के किसी एक मण्डल में अध्यात्म विद्या का कोई उल्लेख न होने का कारण ऋग्वेद के ऋषि को अध्यात्म विद्या का ज्ञान नहीं था।

जिस मण्डल में अध्यात्म विद्या के उल्लेख न होने की बात कही गई है, वह अधिदैव का प्रतिपादक प्रकरण है, वहाँ यदि आध्यात्मिक पदार्थों का उल्लेख नहीं मिलता तो उससे उसके निर्माता ऋषि को अध्यात्म विषय का ज्ञान नहीं था यह बात कैसे सिद्ध की जा सकती है, क्योंकि उस प्रकरण में अधिदैव की प्रधानता है । वहाँ अध्यात्म विषय का उल्लेख होना अप्रासंगिक होता । यह ज्ञान शक्ति को आधार मानकर वेद के स्वरूप का निरूपण हुआ । अब हमें देखना है क्रिया शक्ति से सम्बन्ध रखने वाले धर्म का स्वरूप—

क्रियातत्त्व-धर्म

यह जो क्रिया शक्ति है, मूलत: हम इसके दो भागों का अनुभव करते हैं, एक है सांसिद्धिकी क्रिया और दूसरी है नैमित्तिकी क्रिया । सांसिद्धिकी वह है जिसको उसे अपने आश्रय पर रखने वाला कभी छोड़ता नहीं । जहाँ कहीं सांसिद्धिकी क्रिया, अपने क्रियाशील रूप या कुर्वद् रूप में स्पष्टतया दिखाई नहीं देती वहाँ वह विद्यमान रहने पर भी बलशाली निमित्तों के द्वारा उपस्थापित विशेष क्रिया के द्वारा रुकावट पैदा कर दिये जाने के कारण उद्‌भूत अवस्था में न रहने से अस्पष्ट रहती है । किसी मजबूत लोहे में बँधी हुई रस्सी को पूरी शक्ति से खींचने पर भी उतनी शक्ति से खींची जाने वाली उस रस्सी में कोई क्रिया दिखाई नहीं देती परन्तु पूर्ण शक्ति से खिंचने की क्रिया अवश्य उस रस्सी में उस समय मौजूद है ।

यहाँ यह भी समझ लेना उचित होगा कि परमाणु दो प्रकार के होते हैं, एक वे हैं जिनका स्वभाव या स्वरूप गतिमय है, दूसरे परमाणु स्थिति स्वरूप वाले हैं । इनमें तेज के परमाणु गति स्वभाव वाले होते हैं, उनमें जो हमें स्थिति का ज्ञान होता है वह बाहरी निमित्त के कारण होता है । स्थिति के आगन्तुक निमित्त के हटते ही उनमें पुन: गति का प्रवाह बहने लगता है । यहीं क्रिया सांसिद्धिकी क्रिया है । अब पृथ्वी के परमाणुओं को देखें जो स्थिति स्वरूप वाले है, उनमें जब भी गति दिखाई देगी उसका कोई निमित्त होगा, जब तक यह निमित्त रहेगा तब तक पार्थिव परमाणु गतिशील रहेंगे । इस निमित्त के हटते ही इन पार्थिव परमाणुओं में अपनी स्थिति लौट आयेगी । इसी क्रिया का नाम सांसिद्धिकी क्रिया है ।

यह एक विचारोत्थानिका है । सभी को गति स्वभाव का मान लिया जाय या सभी को स्थिति स्वभाव का स्वीकार कर लिया जाय । सभी जड़ पदार्थों को गति स्वभाव वाला मान लेने पर उनमें जहाँ कहीं स्थिति का आभास होगा, वह किसी निमित्त के कारण ही होगा, इसी प्रकार इसके विपरीत यदि सभी जड़ पदार्थों को स्थिति स्वभाव का मान लिया जाने पर जहाँ कहीं गति भासित होगी वह निमित्त के ही कारण भासित होगी । समस्त जड़ जगत् में ऐसा ही एक सर्वसाधारण नियम मान लेने से संसार के विविध दृश्यों की समन्वित हो सकेगी । ऐसी उत्थानिका चिन्ता का विषय है इस विषय की प्रतिज्ञा करने पर यह बाद ठीक सिद्ध नहीं हो सकेगी, यह नहीं हो सकता कि सर्वत्र गति और स्थिति को सांसिद्धिकी (प्रकृति सिद्ध) मान लिया जाए या उन्हें स्थिति स्वरूप मान लिया जाय ।

सृष्टि के आदिकाल में संस्थित परमाणुओं में गति और स्थिति दोनों में से किसी को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

आर्य शास्त्रों में सृष्टि और प्रलय की एक व्यवस्था मानी जाती है । उसके अनुसार कुछ पदार्थों की गति प्राकृतिक या प्रकृतिसिद्ध या सांसिद्धिक है । उनमें स्थिति का बोध किसी निमित्त के कारण होता है, तथा अन्य पदार्थों में स्थिति प्राकृतिक है, उनमें गति किसी बाहरी निमित्त से भासित होती है । जैसे दिन में चाँदनी की रोशनी रात के ही समान रहने पर भी बलवान सूर्य के प्रकाश से दबा दिये जाने के कारण दिन में चाँदनी नहीं दिखाई देती । इसी प्रकार प्रकृतिसिद्ध क्रिया भी कहीं रहती हुई भी अनुभव में नहीं आती । जैसे लाल फूल के पास रखने पर स्फटिक गोलक में स्वयं में न रहने वाली भी लालिमा दिखाई देने लगती है, अथवा चश्मे के शीशे के रंग की सी रोशनी दिखाई देती है । जो निमित्त से समुत्पन्न क्रिया है वह भी कहीं स्वत: न होते हुए भी किसी बलवान् क्रिया वाले के समीप होने पर उसके संक्रमण से प्रतीत होने लगती है ।

इस प्रकार सांसिद्धिकी या प्रकृतिसिद्धि क्रिया को पाँच भेदों या रूपों में समझा जा सकता है ।

प्रथम भेद में प्रकृतिसिद्ध क्रिया की उद्भूत अवस्था आती है । दूसरी अवस्था में दोषमार्जनसंस्कार से उद्भावित स्थिति आती है । तीसरी अवस्था में

क्रिया विषयान्तर में देखी जाने वाली होती है। चौथी अवस्था वह है जहाँ किसी प्रतिबंधक के अतिशय रूपदोष के संयोग के कारण वह अन्तर्हित हो गई है। पाँचवी वह स्थिति है जब दो समान बलशाली बल संयोग से जिसका स्वरूप तिरोहित हो गया है। ये हुए सांसिद्धिक क्रिया के भेद। अब नैमित्तिक क्रिया की ओर देखने पर उसे तीन रूपों में विभक्त किया जा सकता है। पहली वह जो स्वरूप संपादक संस्कार से उत्पन्न होती है। दूसरी अतिशयात्मक संस्कार से उत्पादित है। तीसरी क्रियावान् के सम्बद्ध से उत्पन्न होती है।

उक्त दोनों क्रिया के सांसिद्धिकी और नैमित्तिकी भेदों में जो पाँच भेदों वाली सांसिद्धिकी क्रिया है, वह चिरकाल स्थित रहने के कारण गुण शब्द से कही जाती है। दूसरी नैमित्तिकी को या तो बल शब्द से व्यवहृत किया गया है अथवा उसके लिए क्रिया शब्द का ही प्रयोग हुआ है।

उदाहरण के लिए सूर्य या अग्नि में प्रकाश होना यह उत्पन्न होने वाली प्रथम क्रिया है। गरम जल की गरमी निकल जाने पर जो ठंढक उस जल में अनुभूत होती है, वह संस्कार से उत्पन्न उद्भावित होने वाली क्रिया द्वितीय कोटि की है। अग्नि के आगे चन्द्रकान्तमणि के हटा देने पर उष्णता का संचार होना उद्भाविता क्रिया का दूसरा ही भेद है।

संयोग होने पर वस्तु के जल जाने से अग्नि में जलाने की क्रिया के प्रत्यक्ष होने से यह संक्रान्त होने वाली तीसरी क्रिया है।

गर्म जल में विद्यमान ठंढक या चन्द्रकान्तमणि के संयोग से अग्नि में उष्णता का अन्तर्हित हो जाना अन्तर्हिता चौथी क्रिया है।

अग्नि के परमाणुओं का संयोग होने पर जल के गर्म न होने पर भी शीतता की प्रतीति नहीं होती, यह तीरोभूता नाम की पाँचवी क्रिया है। यह क्रिया का भेद नैमित्तिक भेद में भी परिगणित होगा क्योंकि समान बलशाली दो पुरुषों के एक काल में परस्पर विरुद्ध दिशा में रस्सी के खींचे जाने पर रस्सी में विद्यमान होने पर भी प्रतीति न होने वाली जो गति है वह पाँचवी क्रिया ही होती है।

राजाओं, राजा के मन्त्रियों, शासकों-राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मंत्रिपरिषद, राज्य-पाल आदि का अपने-अपने अधिकार की प्राप्ति के लिए स्वरूप कारण संस्कार

होता है जो नैमित्तिकी क्रिया के तीन भेदों में प्रथम भेद हैं। यह अधिकार छठी क्रिया है और इसकी संज्ञा है आधिकारिकी। इस प्रकार मानवजाति के प्रमुख समुदायों के अवान्तर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि समूह भेदों में भी स्वरूप संस्कार से समुत्पन्न जो क्रियाकलाप है वह भी षष्ठ क्रिया ही में परिगणित है।

आगे सातवीं अतिशयिकी नाम की क्रिया है जो पत्थर लकड़ी आदि भूमि के पदार्थों को ऊपर तिरछे आदि फेंकने में हेतु बनने वाली है। अब आठवाँ और अन्तिम क्रिया का वह भेद है जो क्रियावान् के संसर्ग या साथ से उत्पन्न हुई है। यह दो प्रकार की है, एक वह जिसकी उत्पत्ति का कारण उसका आधार है, और दूसरी वह जो एक आधार पर आश्रय लेने वाले दूसरे आश्रित को अपना कारण बनाती है। जल के परमाणु के सम्पर्क से शीतता पैदा होगी, अग्नि के परमाणु के सम्पर्क से उष्णता आयेगी। यह जब वायु में प्रतीत होने लगेगी उष्णता और शीतता, तब यह वायु में संस्थिता क्रिया आश्रित मूला है। रथ में, नौका में, ट्रेन में, प्लेन में, उन-उन के संसर्ग के कारण वहां बैठने से, उनकी गति से प्रभावित होने वाले बल की उत्पत्ति आश्रय मूला किया कहलायेगी। हम प्लेन में देहली से बम्बई पहुँच गए, क्रिया हुई प्लेन में वह क्रिया हमारे भीतर भी प्रभाव छोड़ गई, संसर्ग के कारण यह है आश्रयमूला। आश्रय है प्लेन, वही मूल बना है इस हमारी क्रिया का। इस प्रकार उद्भूता, उद्भाविता, संक्रान्ता, अन्तर्हिता, तिरोभूता, अधिकारिकी, अतिशयिकी और सांसर्गिकी ये आठ क्रिया भेद बतलाए गए।

इनमें पाँच भेदों वाली जो सांसर्गिकी क्रिया है उसका व्यवहार धर्म शब्द से पुरातन शब्द व्यवहार में आया है। यहाँ इस भेद या सांसिद्धिक क्रिया को धर्म शब्द से सम्बोधित करने के दो शब्द स्वरूपगत कारण हैं। वह क्रिया धर्म इसलिए है कि वह उस-उस धर्मी के द्वारा प्रतिक्षण क्रियमाण है, धारिता है। वह-वह धर्मी उस-उस क्रिया को प्रतिक्षण प्रतिपल धारण किये हुए है, इसीलिए वह क्रिया धर्म इस नाम से सम्बोधित हुई। वह धर्मी के द्वारा ध्रियमाण होने से धर्म कहलाती है। दूसरा कारण उस सांसिद्धिक क्रिया के धर्म कहने का यह बतलाया गया कि वह उन-उन समस्त वस्तुओं के स्वरूप को धारण करने का कारण बनी हुई है।

संस्कार—

जो नैमित्तिकी क्रियाओं के स्वरूप करणात्मक संस्कार से समुत्पन्न होने वाली अतिशयाधानात्मक संस्कार से पैदा होने वाली तथा क्रियावान् के संपर्क से समागता ये तीन भेद बतलाए गए उनमें जो प्रथम स्वरूपसम्पादक संस्कार से समुत्पन्न होने वाली क्रिया है, उसे धर्म शब्द से सम्बोधित किया गया है । क्योंकि वह क्रिया उन-उन धर्मियों के द्वारा नित्य धारित हो रही है, तथा वह उन-उन वस्तुओं के स्वरूप के धारण का कारण भी बनी हुई है, इसलिए भी वह धर्म शब्द के ही द्वारा कथित होती आयी है । उससे भिन्न जो भी नैमित्तिकी क्रियाएँ हैं—१. अतिशयधानात्मक संस्कार से उत्पन्न होने वाली २. तथा क्रियावान् के सम्पर्क से आने वाली, ये सभी अधर्म शब्द से सम्बोध्य होती आयी हैं । उन्हें वह धर्मी नित्य धारण नहीं करता । उनके अभाव में भी उनका काम निकालन जाने के योग्य होने के कारण भी ये क्रियाएं अधर्म कहीं गई हैं । कहीं-कहीं आवेश के काल में तात्कालिक धर्म के रूप में भी इन क्रिया भेदों को देखा दिखाया गया है, परन्तु इसमें धर्म का व्यवहार गौण रूप से ही हुआ है । उदाहरणार्थ मनुष्य एक मात्र रथ से ही चले, साइकिल, रिक्शा कार से ही चले, स्कूटर से ही चले यह मनुष्य के अपने स्वरूप में शामिल होने वाली बात नहीं है, जिसके आधार पर हम उन यानों से चलने के लिए उपयोगिता को मनुष्य का धर्म मान लें । परन्तु मनुष्य चलने में इन यानों का उपयोग करता है इसलिए ये यान मनुष्य की गति के गौण धर्म के रूप में स्वीकार किये जाते हैं ।

इस प्रकार सामान्यतया धर्म और अधर्म के आधार बताए गए । यहाँ अधर्म शब्द का आशय धर्म के अभाव को बतलाना है । सांसिद्धिक क्रियाशक्ति को तिरोभूत या लुप्त करने वाले अतिशय का आवेश होना तो सर्वदा ही अधर्म है क्योंकि वह धर्म का आभाव मात्र न होकर धर्म का विरोधी है । इसीलिए वह सारा कुछ अतिशय अधर्म कहा गया जो सुख के विरुद्ध अपना परिणाम प्रकट करता है । वह जब हमारे अन्दर प्रवेश करता है, सिर पर चढ़ता है तब वह अधर्म कहा जाता है । सुख का अनुभव आत्मा की सांसिद्धिक शक्ति है, उससे विरुद्ध क्रिया का आवेश या त्रवेश होना कभी धर्म के रूप में नहीं गिना जा सकता । सुख के विरोध को अपने परिणाम के रूप में प्रकट करने वाली यह अतिशय क्रिया तीन

प्रकार की देखी गई है। या तो यह अपनी ही क्रियाओं से आने वाली है, अथवा यह दूसरे की क्रिया से अपने में आई है या यह उन क्रियाओं से अपने में आई है जिन्हें हम आज देख पाने में असमर्थ होने के कारण उन्हें अदृष्ट कहते हैं। इनमें जो दूसरे के व्यापार के कारण हमारे अन्दर प्रवेश करने वाली क्रिया है वह तो स्पष्ट ही अधर्म रूपा है। जहां यह दृश्य दिखाई दे रहे हैं कि इच्छा तो है सुख भोग करने की परन्तु जिस अतिशय को अपने में लाने के लिए हम लपक रहे हैं, यह परिणाम में सुख का विरोधी है, उसे हम स्वयं अंगीकृत कर रहे हैं, वह एक पहिले से ही विद्यमान अज्ञान रूपी अतिशय का कारण बना हुआ है, अत: वह भी किसी भी प्रकार से दूसरे से ही प्रेरित माना जाकर अधर्म की ही कोटी में आता है।

अब जहां हम यह देखते हैं कि सुख के विरुद्ध अतिशय आने का कारण न तो अपना कोई व्यापार या क्रिया-कलाप है और न ही किसी दूसरे ने वैसे सुख विरोधी किसी क्रिया-कलाप का हमारे ऊपर प्रयोग किया है, फिर भी हमें सुख के विरोध के फल का अनुभव हो रहा है, वहाँ उसका कारण सर्वत्र व्याप्त ग्रह आदि तथा दैव का संयोग है अथवा पूर्वजन्मोपार्जित अतिशय का संयोग या उद्बोधन हो उठना उसका कारण स्वीकार करना होगा। ऐसी स्थिति में उस संस्कार को भी अधर्म रूप ही कहना होगा। जहाँ अपने किये, दूसरे के किये या अदृष्ट के दिये अतिशय के प्रभाव को हम सुख के विरोध में अनुभव नहीं करते वहाँ यह दु:ख के अभाव रूप सुख का जनक होने के कारण, तथा सुख के जनक जितने अतिशय हैं वे दोषमार्जन संस्कार रूप में गिने जाने के कारण उन्हें धर्म के रूप में गिना जाना युक्ति सिद्ध होता है। अतिशय संस्कार से उत्पन्न होने वाली सातवीं नैमित्तिक क्रिया के प्रकरण के विश्लेषण में धर्म और अधर्म का यह विचार प्रस्तुत हुआ। यहाँ जो अधर्म शब्द का प्रयोग है वह धर्म के विरोधी के रूप में है।

किसी अन्य क्रियावान् के साथ से उत्पन्न होने वाले जिस क्रिया भेद का निरूपण नैमित्तिक क्रिया के तीसरे भेद के रूप में हुआ है, उसी का ध्यान रखते हुए निकृष्ट व्यवहार रखने वाले दुराचारियों के साथ रहने के संसर्ग का निषेध, घृणास्पद स्थानों में रहने आदि का निषेध, कुत्सा से भरे मांस आदि भक्षण का निषेध, आदि कुछ आहार विहार के व्यवहारों के भेद चले आ रहे हैं। जैसे वायु में संक्रान्त होने वाले जल या अग्नि के परमाणुओं के अतिरेक के द्वारा वायु में शीत स्पर्श या उष्ण

स्पर्श है, इसी प्रकार अनिष्टों के साथ उठने बैठने, साथ रहने के कारण अनिष्ट धर्मों का हमारे भीतर संक्रमण न हो , इसकी चेष्टा करना उचित एवं आवश्यक है । विद्या के द्वारा पहले अभीष्ट और अनभीष्ट का ठीक से परीक्षण कर लिया जाना उचित होता है तब जहाँ तहाँ आहार व्यवहार आदि में अपनी प्रवृत्ति या अपनी निवृत्ति रखनी उचित होती है । ऐसा न हो कि देश काल तथा पात्र का विचार किये बिना एकाएक प्रवृत्त हो जाने का मार्ग हम चुन लें । यदि स्वरूपकरणात्मक संस्कार से उत्पन्न क्रिया के छठे भेद के अनुकूल देशकाल पात्र प्रतीत हों तब वहाँ आहार-विहार आदि की हमारी प्रवृत्ति ठीक मानी जायेगी । वह पुण्य कहलाने वाला कार्य होगा । वैसा कार्य करने वालों का अभ्युदय होना निश्चित है । इसके विपरीत यदि छठे क्रिया भेद के विपरीत देश, काल तथा पात्र का समन्वय होने पर भी अपने-अपने अधिकार के विरुद्ध, आहार विहार में प्रवृत्ति हमारी होगी तब हमारी अवनति ही होगी । जो शस्त्रोपजीवी हैं उनके आहार विहार आदि शास्त्रोपजीवी से भिन्न होंगे । वैसे ही शास्त्रोपजीवी के व्यवहार शास्त्रोपजीवी के नहीं होंगे । इसी प्रकार रोगग्रस्त पुरुष के द्वारा स्वस्थ पुरुष के करने योग्य भोजनादि विपरीत होंगे, वैसे ही स्वस्थ व्यक्ति का भोजन रोगी के भोजन से भिन्न होगा । पित्त या श्लेष्मा से ग्रस्त का भोजन एक दूसरे के विपरीत होगा । शीतकाल के वस्त्र आदि उष्णकाल में तथा उष्णकाल के वस्त्र आदि शीतकाल में धारण नहीं किए जा सकते । शीतप्रधान देश का आहार व्यवहार उष्णप्रधान देश में तथा उष्णप्रधान देश को आहार व्यवहार शीतप्रधान देश में विपरीत होंगे । इसीलिए सर्वत्र सभी के द्वारा अपने-अपने देश काल पात्र आदि को ध्यान में लेते हुए किए गए कार्य उसके अपने लिए तथा अन्य लोगों के भी हित साधक होते हैं । जो लोग विपरीत आचरण में लग जाते हैं वे 'कपूयाचरण' इस निन्दाव्यंजक शब्द के सम्बोध्य बनते हुए दुर्दशा भोगते हैं ।

जो रमणीय आचरण वाले लोग भी दुर्दशा ग्रस्त देखे जाते हैं, तथा कपूयाचरण या निन्दित आचरण वाले भी उन्नतिशील देखे जाते हैं, वहाँ शिक्षा के दोष से ऐसा होता है, वहाँ इष्ट और अनिष्ट का परिचय कराने वाली विद्या से विमुखता होने के कारण जो प्रवृत्ति या व्यवहार आज हैं वे अविद्या के फल भूत दुर्दशा में भी घुन के बनाए हुए अक्षरों के न्याय से कभी-कभी उन्हें अभ्युदय भी मिल जाता है तो यह एक अलग बात हो जाती है, इसीलिए जानकर ही कार्यों को करना चाहिए,

बिना जाने कोई कार्य नहीं करना चाहिए । यदि बिना ज्ञान के काम में लग गए तो कदम-कदम पर गिरना होगा, ठोकरें खानी होंगी । ऋषियों के उपदेश तथा धर्म के उपदेशों को भी वेद और शास्त्र के अविरुद्ध तर्क से समझने पर ही धर्म का ज्ञान हो पाता है । इससे भिन्न रीति से धर्म का ज्ञान होना संभव नहीं है ।

इस प्रकार आठ भेद वाली क्रियाओं को अपने मूल में स्थान देने वाले धर्म के प्रकारों को संक्षेप से दिखाया गया यहां जो अधर्म है वह अनिष्ट धर्म रूप है ऐसा समझना चाहिए ।

यज्ञ, दान और तप

स्वरूप सर्म्पक संस्कारों का आधान करने वाली क्रिया के आधार पर अब धर्म का विचार किया जाता है । यह क्रिया आधिकारिकी क्रिया है । पात्र के भेद के कारण इसके अनेक भेद हो जाते हैं, तथापि सामान्य दृष्टि से देखने पर सभी को सामान्यतया अधिकार देने वाली यह क्रिया तीन प्रकार की होती है यज्ञ, दान और तप । अपने में अविद्यमान तथा अपने लिए अपेक्षित अतिथियों को दूसरे से स्वयं में लेना तप कहलाता है । अपने उपयोग से अधिक अपने अधिकार में संस्थित अतिथियों को दूसरे को समर्पित करना दान कहा गया है । इनमें तप देवों की आराधना, संयमों का साधन, शरीर का शोषण, व्रत आदि शब्दों से अनेक प्रकार से कहा गया है । बोधायन ने कहा है, अश्रद्धा परम पाप है । उक्त अतिशय देव आदि अनेक रूपों वाले हैं । दान और त्याग में यहाँ सूक्ष्म भेद हैं । किसी वस्तु में से जब अपना स्वामित्व हटाकर दूसरों के स्वामित्व में हम उसे देते हैं तब वह दान शब्द से कहा जाता है । जब अपने अधिकार को तो हटा लिया, परन्तु किसी दूसरे के स्वामित्व में उसे नहीं दिया तब वह त्याग कहलाता है या उत्सर्ग शब्द से भी वह कहा गया है । यह दान और आदान जीवन भर जड़ और चेतन दोनों में दिखाई देते हैं । सभी जड़ पदार्थों में भी अपने से भिन्न धर्म का ग्रहण करना और अपने धर्म को वितरित करने का क्रम देखने में आता है । इसे अनुशय शब्द से कहा गया है । चेतन में केवल इच्छा से देने और लेने की प्रवृत्ति और निवृत्ति विशेषता रखती है । इस प्रकार के कर्म के विनिमय से यह सारा संसार एक-एक करके सम्पन्न होता हुआ बलवान बनता है । जो भी सम्पन्न होता है, वह बिना किसी अन्य की अपेक्षा

के जगत् को पूर्ण बनाने में प्रयत्नशील होता है । जगत् की परिपूर्ति का आप्यायन का यह उपक्रम यज्ञ कहा गया है । यह सारा जगत् अग्नि और सोम से चल रहा है । सारे संसार के उपादानकारण भूत देवगण प्राय: सोम के इच्छुक होते हैं, सोम का ग्रहण करते हैं, और अग्नि को अन्यत्र देते हैं । देवताओं का मुख अग्नि है तथा उनके भोजन के लिए सोम आदि हवि होते हैं । भोजन की तीव्र इच्छा होने पर जैसे बुभुक्षाग्नि का प्रज्ज्वलन माना जाता है और उसमें अन्न की आहुति से उसे शान्त किया जाता है, इसी प्रकार सभी पदार्थ समूह में अग्नि के प्रदीप्त हो उठने पर अन्य पदार्थ के अतिशय या श्रेष्ठ अंश की आहुति दी जाती है । इसलिए यह यज्ञ भी सर्वसाधारण से सम्बद्ध होता हुआ सभी का धर्म बना हुआ है । यह जो भी कुछ दृश्यमान हो रहा है, उन सभी में अग्नि में सोम की आहुति रूपी यज्ञ प्रवर्तित होने से यह जगत् का चक्र गतिमान हो रहा है । जो भोजन किया जाता है, जो अध्यापन हो रहा है, या जो भी कुछ किया जा रहा है, वह सभी यज्ञ है । यह जो राजाओं का शासकों का राज्य या शासन चक्र चल रहा है, तथा प्रजा के द्वारा राजा को कर दिया जा रहा है, यह सारा यज्ञ ही है । स्त्री के गर्भ में शुक्र आहुत होता है, संसार में अग्नि के द्वारा सम्पादित और सिद्ध होने वाला कर्म का समूह यज्ञ है । यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म है, कारण यह है कि अन्तत: समस्त कर्मों का अन्तर्भाव इसी यज्ञ में हो रहा है । इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—

"यज्ञ के साथ प्रजा को उत्पन्न कर प्रजापति ने पुराकाल में कहा कि इस यज्ञ से तुम प्रसव करो, यह तुम्हारे इष्ट और काम की पूर्ति करने वाला है ।"

इस प्रकार आदान या ग्रहण रूप कर्म के द्वारा अपने हित का सम्पादन करते हुए और दान कर्म के द्वारा परहित का विशेष रूप से संसाधन करते हुए यज्ञ कर्म के द्वारा सामान्य रूप से समस्त संसार के हित के लिए प्रवृत्त होना आवश्यक है, उस यज्ञ कार्य में किसी फल की कामना से किसी व्यक्ति विशेष को लक्ष्य में नहीं रखना चाहिए ।

वर्ण—

उदाहरणार्थ दूर जाने की आवश्यकता नहीं, अपने शरीर के अवयव या अङ्गों की ओर ही हम देखें कि हमारे अङ्ग अपने से भिन्न हमारे ही दूसरे अङ्गों की

सहायता के लिए लगे हुए अनुभव में आ रहे हैं। हमारी आंखें दूर की वस्तु को देखने में असमर्थ हैं तब हमारे पैर हमारे शरीर को उस स्थान पर ले जाते हैं तब हमारी आँखें वहाँ की वस्तुओं को देख पाती हैं, जो पैर वहाँ तक ले गए हैं वे कुछ नहीं देखते, अथवा पैरों को वहाँ जाने से अन्य कोई फल भी प्राप्त नहीं होता, अपितु पैरों का यह कर्तव्य है इसीलिए पैर ऐसी क्रिया करते हैं। इस क्रिया से नेत्र पैर आदि से संगठित आत्मा की संतुष्टि होती है। इसी प्रकार भगवान् परमेश्वर के विराट् रूप का यह सारा ही जगत् अंग प्रत्यंग के समान है। इसलिए विराट् के अंग के रूप में संस्थित मनुष्य आदि के द्वारा भी अपनी फल प्राप्ति को ही केवल उद्देश्य बनाकर सर्वत्र अपनी प्रवृत्ति नहीं रखनी चाहिए, किन्तु यह मेरा अधिकार सिद्ध कर्तव्य कर्म है ऐसी बुद्धि से सर्वथा निष्काम होते हुए कर्मों में अपनी प्रवृत्ति रखना उचित होता है। इस प्रकार के कर्म संपादन से समस्त जगत् का आत्मस्वरूप भगवान् परमेश्वर संतुष्ट होता है ऐसा आर्यों का मानना है। जगत् के उपकार का यह क्रम अपने विशेष रूपों में यद्यपि अनेक प्रकार से व्याख्यात है, तब भी सबको एकत्रित करके काम्य आदि विशिष्ट यज्ञ विधि के रूप में, वर्ण व्यवस्था के रूप में समाज संरचना के रूप में इन तीन प्रकारों में इसकी व्याख्या हुई है।

यज्ञ विधि में इष्टि आदि वृष्टि या वर्षा कराने वाले, श्येनयाग आदि अभिचार वाले, महाभिषेक आदि विजय रूपी फल देने वाले, आदि रूपों में अनेक की विधियाँ व्याख्यात हुई हैं।

यहाँ यह भी विशेष ध्यान में लेने की बात है कि यज्ञ, तप और दान यद्यपि सर्वसाधारण के लिए हैं, तथापि इनमें जब विशेष जानने की जिज्ञासा होती है तब यज्ञ को अपना प्रधान कर्म बनाने वाले मनुष्य ब्राह्मण हैं, ब्राह्मण यज्ञ करते हैं। तप को प्रधानता देने वाले मनुष्य क्षत्रिय हैं। दान को प्रधान कर्म बनाने वाले वैश्य हैं, वह समस्त लोक की उपयोगी सामग्री को अपने-अपने स्थानों से एकत्रित करके उनके ग्रहण की इच्छा से आने वालों को समर्पित करने की इच्छा रखते हैं। जो मनुष्य अपने कर्तव्य कार्यों में यज्ञ, तप या दान में से किसी भी एक को प्रधानता देकर उसमें लगते हैं वे शूद्र हैं। शूद्र वे हैं जो दूसरे से प्रेरित होकर कर्म करते हैं, वे कर्तव्य में विशेषता अपने ही परिश्रम को महत्व नहीं दे पाते।

विद्या सत्त्व गुण प्रधान है, अत: उसका वर्ण या रंग शुक्ल या श्वेत माना गया है। पराक्रम शक्ति के रजोगुण प्रधान होने से उसमें रक्त वर्ण को समझा जाता है। धन में मिश्रण गुण की प्रधानता के कारण पीत वर्ण को स्थान मिलता है। शारीरिक बल में तमोगुण की प्रधानता के कारण वहां कृष्ण या काले वर्ण को संकेतित माना गया है।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः

इस श्रुति वाक्य में सत्त्व, रज, तम गुणों की प्रकृति से तात्पर्य है। इनमें शुक्ल, लोहित, कृष्ण वर्णों या रंगों का समझाने की दृष्टि से रूप दिखाने के लिए गौण रूप से कथन है। यह एक प्रतीक मात्र है इस बात का कि सभी संसार के पदार्थ प्राकृतिक हैं। अत: उनकी व्यवस्था चार में गिनाकर की गई है। इसलिए सत्त्व गुण की प्रधानता वाला ब्राह्मण शुक्ल वर्णवाला है। रजोगुण की प्रधानता रखने वाला क्षत्रिय लाल या रक्त वर्ण वाला है। मिश्रित गुणों की प्रधानता धारण करने वाला वैश्य पीत वर्ण वाला तथा तमोगुण की प्रधानता रखने वाला शूद्र कृष्ण वर्ण का है, यह गुणों के कारण वर्णों की व्यवस्था की जाती है।

अब देखा जा रहा है कि जो अपने को ब्राह्मण कहने वाले हैं, जो विद्या शक्ति की साधना के लिए अधिकृत हैं, वे अपने अधिकार से विमुख होकर वैश्यों और शूद्रों आदि के कार्यों में अपनी अधिकाधिक प्रवृत्ति रखे हुए हैं। परन्तु वे अपने को वैश्य या शूद्र नहीं मानते। इसीलिए धर्म की संकरता हो जाने से तथा अपने धर्म से गिर जाने से ये लोग कष्ट में घिर जाते हैं। इस प्रकार क्षत्रिय, वैश्य आदि भी अपने धर्म से गिर कर अवनति को अंगीकार करते हैं। इसलिए सभी को इस प्रमाण सिद्ध बात की शरण ग्रहण करना उचित है कि देश, धर्म, जाति धर्म तथा कुल धर्म जो शास्त्र और परम्परा से चले आ रहे हैं, वे हमारे आदर्श, प्रमाण या सबूत हैं। यह गौतम का कथन है। मनु का कथन है। कि—

धर्म वेत्ता के लिए उचित है कि जाति धर्म, जनपद धर्म, श्रेणि धर्म और कुल धर्म की छान-बीन करके अपने धर्म को जाने पहचाने और समझे।

गीता का कथन है—

"अपने धर्म में यदि गुण की प्रतीति न भी हो तो भी वही श्रेष्ठ होता है बजाय इसके कि हम दूसरे के धर्म या कर्तव्य का रुचि पूर्वक पालन करें। अपने कर्तव्य का आचरण क़रते हुए मर जाना भी श्रेयस्कर होता है, दूसरा धर्म सर्वदा भय ही, उपजाने वाला होता है।"

याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"मनुष्य का तब पतन होता है जब वह करणीय कर्तव्य का आचरण नहीं करता और जिन कार्यों की निन्दा की गई है उनका सेवन करता है तथा जो अपनी इन्द्रियों पर अपना अधिकार नहीं रख पाता।"

मनु कहते हैं—

"विहित कर्म का जो पालन नहीं करता तथा निन्दित कर्मों का जो आचरण करता है, तथा जो इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहता है वह पतन के मार्ग में अग्रसर है।"

यह बात सर्वथा सत्य है। कोई अपने को सैनिक मानता है, सैनिक होने का अभिमान धारण करता है, यदि वह सैनिक के अधिकार सिद्ध कार्य नही करता, यदि वह वैश्य के अधिकार सिद्ध व्यापार कार्य में लगता है तब उसे पहले अपने सैनिक होने का अभिमान छोड़ना होगा, अथवा सैनिक रहते हुए व्यापारादि करने पर दण्ड भोगना होगा। इसी प्रकार यदि ब्राह्मण वंश में उत्पन्न ब्राह्मण होने का अभिमान रखने वाला, तथा क्षत्रिय वंश में उत्पन्न होने से क्षत्रियत्व का अभिमान रखने वाला, यदि ब्राह्मणत्व के लिए अधिकृत या क्षत्रियत्व के अधिकार में आये कर्तव्यों की अपेक्षा करता है और वणिक् के अधिकार में आए वाणिज्य कार्य को करता है, उसे अवश्य ब्राह्मणत्व आदि का अपना अभिमान छोड़ना होगा, ऐसा न होने पर दरिद्रता आदि कष्टों को भोगना होगा, क्योंकि वह सुख और सौभाग्य के उपाय भूत सभी कर्मों से गिर चुका है। केवल वाणिज्य से ही उसे अभीष्ट की प्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि वाणिज्य के लिए आवश्यक कुछ योग्यताएं जो व्यापार में सिद्धि दिलाने की उपाय हैं, उनकी उसे प्राप्ति होने में ब्राह्मणत्व आदि का अभिमान प्रतिबंधक होगा और इसीलिए वाणिज्य की योग्यता उसमें नहीं आ सकेगी। ऐसा भी नहीं है कि ब्राह्मण होने से ही उसे भी सिद्धि प्राप्त हो जायेगी। उसमें वाणिज्य या ब्राह्मणत्व

की कतिपय योग्यता तो आ सकेगी परन्तु उस कर्म में प्रकृष्टता प्राप्त करने की अक्षमता के कारण उसका पूर्ण फल उसे नहीं मिल सकेगा । इस प्रकार दोनों ओर से गिर कर ऐसा व्यक्ति सुख को प्राप्त करने के उपाय भूत किसी भी धर्म को धारण नहीं करता इसीलिए अवश्य ही वह दु:ख का भागी होता है । अब यदि कोई ब्राह्मण रूप से उत्पन्न होकर अपनी वंश परम्परा में आए वाणिज्य के व्यवसाय के महत्व के कारण वाणिज्य के लिए आवश्यक कतिपय योग्यताओं को भी धारण करता है, और इस प्रकार जन्म से ही वाणिज्य में ही लगा है, वह यद्यपि अंशत: सुख और सौभाग्य के निर्देशक धर्म को धारण करता है इसीलिए अवश्य ही वही सुख और सौभाग्य ऐश्वर्य से सम्पन्न होगा, परन्तु उस अवस्था में उसे ब्राह्मण नहीं कहा जा सकेगा । क्योंकि वहाँ एक सिद्धान्त सिद्ध वाक्य है कि—

"अपने विहित कर्म को न करने वाला व्यक्ति पतन का भागी होता है । अत: वह ब्राह्मणत्व से पतित हो चुका है ।"

"अपने धर्म से गिर कर लोभ से वह दूसरे के व्यवहार का आश्रय ले चुका है," वह उसी में अभ्यास से आसक्त हो रहा है, अत: उसकी समानता रखता है । इसलिए वह एक प्रकार का वणिक् ही है ।

यद्यपि माता-पिता, विद्या और कर्म ये मिलकर ब्राह्मणत्व के कारण हैं तथा माता-पिता पशु पालन तथा वाणिज्य कर्म ये वणिक् वर्ण के कारण हैं ऐसा सिद्धान्त है, उसके अनुसार ब्राह्मण माता पिता वाला वणिक् धर्मी व्यक्ति न ब्राह्मण ही रह जाता है न वणिक् ही माना जाता है ।

"जो जन्म से अनार्य होता हुआ कर्म से आर्य है तथा जो जन्म से आर्य होकर कर्म से अनार्य है, इन पर विचार करके यह कहा गया है कि वे न जन्मपक्षियों की समानता में आते हैं न कर्मपक्षियों की समानता में । असमानता में भी वे नहीं आते । इस मनु कथन से इस प्रकार के लोगों को नये वर्ग में ही गिना जा सकता है । वे विलक्षण ही माने गए हैं । यद्यपि ब्राह्मण माता पिता से उत्पन्न होने को प्रधानता देने वालों के मत में उक्त प्रकार के व्यक्ति को नाममात्र से ब्राह्मण संज्ञा मिल जाती है । तथा कर्म को वर्ण में मुख्यता देने वाले मत में कर्म की मुख्यता के

कारण यह वणिक् उपाधि से व्यवहृत होता है । इन दोनों मतों का सामञ्जस्य करते हुए भगवान् अत्रि का कथन है कि—

"देव, मुनि, द्विज, राजा, वैश्य, शूद्र, निषाद, पशु, म्लेच्छ तथा चाण्डाल ये दस प्रकार के विप्र होते हैं । इनमें वह विप्र वैश्य कहलाता है, जो कृषि कार्य में लगा हो, जो गायों को पालता हो, जो वाणिज्य का व्यवसाय करता हो" । इस पतित हुए ब्राह्मणों के दस भेद उन्होंने गिनाए । जैसा कुछ इन वाक्यों का निर्णय किया जाय, यह तो अवश्य ही निश्चित रूप से मानना होगा कि संसार में अपने अधिकार सिद्ध कर्म को छोड़कर अन्य कर्म का आचरण करने वाला, मर्यादा को तोड़ने वाला बनकर कभी सुखी नहीं हो सकता । क्योंकि अधिकार का उल्लंघन अधर्म होता है और अधर्म दुःख देने वाला होता है । इसी प्रकार वेश भूषा आदि भी अपने-अपने देश, काल और कुल के अनुसार उचित ही होने चाहिए, उनसे अपने-अपने देशकाल की पहचान होती है, उन्हें अकारण छोड़ना उचित नहीं होता ।

इसलिए देश, काल, कुल और वृत्ति के अनुसार जिसका जैसा अधिकार सिद्ध आचरण या धर्म है, जिसे हमारे मान्य पूर्वजों ने नियमित किया है उसके परिपालन से ही हमारा अभ्युदय होता है, अन्यथा यह सिद्ध नहीं हुआ तथा इस आर्यावर्त का धर्म ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति रूपी महाशक्ति मूलक है अत: यह सुदृढ़ होने से समस्त देशों के धर्मों में शिरोमणि है ।

इस तरह कर्मों के अनुरोध से मनुष्य जाति चार प्रकारों में विभक्त हो जाती है।

यहाँ एक दूसरा भी मत है। विद्याशक्ति, पराक्रमशक्ति, धनशक्ति तथा शारीरिक बल शक्तियों में एक-एक समस्त जगत् की शक्ति के उपकारक होने के कारण, क्रम से एक-एक शक्ति की साधना के लिए मनुष्य समुदाय क्रम से एक-एक शक्ति की सिद्धि के अनुकूल कर्मों में अधिकृत होकर उसमें नियमपूर्वक प्रवर्तित किए गए। इनमें विद्या शक्ति की प्रधानता वाले ब्राह्मण, पराक्रमशक्ति को प्रधानता देने वाले क्षत्रिय, धन शक्ति को प्रधानता देने वाले वैश्य, तथा शारीरिक बल मात्र को प्रधानता देने वाले शूद्र हैं। इस क्रम से सारे जगत् के मनुष्य चार प्रकारों में विभाजित करके संस्थापित किए गए।

ब्राह्मण मात्र की विद्या शक्ति ब्रह्म और देवाराधना से साधनीय है, वहाँ अग्नि ही ब्रह्म है, ब्राह्मण को चाहिए कि वह ब्रह्मरूप अग्नि के छन्द का अनुगमन करे। अग्नि का छन्द गायत्री है। ब्रह्म तेज को ही गायत्री कहते हैं। गायत्री छन्द में आठ वर्ण हैं। वर्ण का अर्थ है अक्षर। इसलिए जन्म के आठवें वर्ष में ब्राह्मण बालक का उपनयन होता है। इसी प्रकार क्षत्रिय की पराक्रम शक्ति इन्द्र देव की अराधना से साध्य होती है। इसलिए क्षत्रिय को इन्द्र के छन्द से व्यवहार करना चाहिये। त्रिष्टुभ इन्द्र का छन्द है। वीर्य या शक्ति ही त्रिष्टुभ है। त्रिष्टुभ छन्द में ग्यारह होते हैं, इसलिए जन्म से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय बालक को उपनीत किया जाता है।

वैश्य वर्ण की धनशक्ति विश्वेदेव की आराधना से सिद्धि को प्राप्त करती है। आदित्य ही विश्वदेव हैं। अत: वैश्य को आदित्य के छन्द से व्यवहार करना चाहिये। जगती आदित्य का छन्द है। पशु ही जगती हैं। जगती छन्द में बारह अक्षर हैं, इसीलिए जन्म से बारहवें वर्ष में वैश्य बालक उपनीत होते हैं।

इनको जो यह 'वर्ण' नाम दिया गया है, उसका कारण यही स्पष्ट हो रहा है कि छन्दों में परिगणित वर्णों की संख्या से इनके उपनयन आदि प्रधान सांस्कारिक कर्मों का नियमन होने के कारण ही इनकी वर्ण संज्ञा है।